सिद्धयोग

संस्थापक, संरक्षक एवं संपादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सलाई आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

❀ कस्माद्भवं योगिनः १
❀ अभ्यास - योग (विशेष लेख)
योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज २
❀ सहजावस्था
आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा १०
❀ जैन-तन्त्र : एक समीक्षात्मक सर्वेक्षण
डा० श्री रुद्रदेव त्रिपाठी १७
❀ पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम् २२
❀ काल चरता आ रहा (कविता)
श्री रामसजीवनसिंह २४
❀ प्रणव-जप एवं समाधि
श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री २५
❀ बाहर बाहै चोट
डा० श्री विजयसिंह २९
❀ साधकों के प्रश्न तथा उनके उत्तर
श्री सद्गुरु देव जी द्वारा ३२
❀ सिद्ध योगिनी व्रज गोपियाँ
श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए. ३८
❀ नारी और आध्यात्मिकता
डा० श्रीमती प्रतिमा अस्थाना ४५

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

[illegible] का मूल्य : १८ रुपया

श्री सद्गुरु देव जी के योग[illegible]चार कार्यक्रम— [टाइटिल पेज ३ का शेष]

दिनांक ४—१—८२ को कछवा के लिए प्रस्थान

दिनांक ४-१-८२ से ६—१-८२ तक] योग-प्रचार कार्यक्रम कछवा [illegible]
पता—श्री स्वामीप्रसादसिंह [illegible]
मु. पो. कछवा रोड, [illegible]

दिनांक ७—१—८२ को इलाहाबाद के लिए प्रस्थान

दिनांक ७—१—८२ से ७—२—८२ तक] योग-प्रचार का[illegible]
पता—द्वारा डा० बी. [illegible]
१३५, अलोपी [illegible]

❀ आगे के कार्यक्रम आगामी अंकों में प्रकाशित होंगे[illegible]

सिद्ध योग

वर्ष १४
अङ्क ८

नवम्बर
१९८१

ध्यायं ध्याय यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुविशद योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

कस्माद्भयं योगिनः

(योगी को किससे भय है)

—❀❀❀❀—

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी, शान्तिश्चिरं गेहिनी ।
सत्यं मित्र मिदं दया च भगिनी, माता मनः संयमः ॥
शय्या भूमितलं दिशोपि [illegible] ज्ञानामृत भोजनम् ।
ह्येते यस्य कुटुम्बिनो वद सख [illegible]द्भयं योगिनः ॥

अर्थात्

हे सखे तुम ही बताओ उस योगी को किससे भय है जिसका पिता धैर्य, माता क्षमा, शाश्वत शान्ति गृहणी, सत्य मित्र दया भगिनी, मन का संयम भाई, भूमितल्व शय्या, दिशायें वस्त्र, और ज्ञान रूपी अमृत जिसका भोजन है।

—वैराग्य शतक

हमारा विशेष लेख—

अभ्यास-योग

❀ योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

श्रीमद्भगवद्गीता में जगदात्मा योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने जहाँ अर्जुन को निमित्त बनाकर समस्त मानव जगत को परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए विविध योग-साधनों का उल्लेख किया है वहां उन्होंने उन साधनों में अभ्यासयोग का भी वर्णन विशेष रूप से किया है। अध्याय १२ में वे स्पष्ट रूपेण निर्देश देते हैं कि—

ये तु सर्वाणि कर्माणि
मयि संन्यस्यमत्पराः।
अनन्येनैव योगेन-
मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता
मृत्यु संसार स[illegible] [illegible]।
भवामि न चिरात्पार्थ
मय्यावेशित चेतसाम् ॥
—गीता १२/६-७

अर्थात् जो समस्त कर्मों को मुझ ईश्वर के समर्पण करके, मेरे परायण होकर केवल अनन्य योग से अर्थात् विश्व रूप परमात्मा को छोड़कर जिनका कोई अन्य अवलम्ब नहीं है ऐसे अनन्य भाव से जो चिन्तन, ध्यान और उपासना करते हैं।

उनका क्या होता है? यह स्पष्ट करते हुए भगवान कहते हैं—हे पार्थ! मुझ विश्व-रूप परमेश्वर में ही जिन्होंने अपना चित्त समाहित कर दिया है उनका इस जरामरण रूप दुःख-सागर से मैं अविलम्ब उद्धार कर देता हूं। इसलिए तुझे उचित है कि—

मय्येव मन आधत्स्व
मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव
अत ऊर्ध्वं न[illegible] ॥
—गीता १२/८

अर्थात् तू मुझ ईश्वर में ही अपने संकल्प विकल्पात्मक मन और बुद्धि को स्थित कर इससे तुझे मदात्मभाव अर्थात् ऊर्ध्व गति प्राप्त होगी।

इस उपरोक्त निर्देशन के पश्चात् ही भगवान मानव मन की कमजो[illegible] [illegible]ग्हें न[illegible] अर्जुन को यह उपयोगी परामर्[illegible]

अथ चित्तं समाधातुं
न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यास योगेन ततो
मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥

अर्थात् हे अर्जुन यदि तू उपरोक्त प्रकार से मेरे में अपना मन और बुद्धि स्थापित नहीं कर सकता है तो तू अभ्यासयोग के द्वारा मुझे यानी विश्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा कर।

आगे श्रीकृष्णचन्द्र ने अभ्यासयोग द्वारा भी परमानन्द रूप ब्रह्मानन्द की प्राप्ति न होने पर मदर्थ यानी लोक-कल्याणकारी कर्म करने अथवा वेद विहित निष्काम कर्मों को करने का परामर्श देते हुए सिद्धि प्राप्त कर लेने का सुगम तथा सहज उपाय दर्शाया है।

किन्तु इन अन्य उपायों की विवेचना न कर [illegible] हम केवल अभ्यास योग की ही चर्चा [illegible] आवश्यक समझते हैं।

अभ्यास और योग—इन दो शब्दों का मेल ही अभ्यास योग कहा गया है। अभ्यास अभि उपसर्ग तथा यास के संयोग से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है विशेष यानी भली प्रकार किया हुआ प्रयत्न अथवा प्रयास। मन वाणी अथवा शरीर द्वारा जिस विचार अथवा क्रिया को बार-बार प्रयत्नपूर्वक [illegible] या जाता है उसी को अभ्यास के नाम से पुकारा जाता है। बार-बार दुहराने अथवा करने से जो भाव अथवा कर्म करने की विधि हमारे अन्तर मन में समा जाती है उसे ही हम सहज धर्म अथवा सहज भाव कहने लगते हैं। जो भाव हमारा अपना बन जाता है वही स्व-भाव कहा जाता है इसी का अपर नाम सहज धर्म होता है। भगवान अर्जुन को उपर्युक्त श्लोकों द्वारा यही समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि यदि तेरा चित्त उपासना अथवा ध्यान योग में स्थिर नहीं होता है तो तू अभ्यास योग का आश्रय ले। अभ्यास योग तुझे तेरे लक्ष्य तक पहुँचा देगा।

इससे पूर्व भी भगवान ने अर्जुन को अभ्यास योग का आश्रय लेने का परामर्श तब दिया है जब उसने मन को दुनिग्रही और अति चञ्चल बताते हुए उसे वश में करने का उपाय पूछा है। अर्जुन ने मन की अपराजित शक्ति का रूप प्रस्तुत करते हुए भगवान से [illegible]न किया—

चञ्च[illegible] मनः कृष्ण
प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये
वायोरिव सुदुष्करम् ॥
—गीता ६/३४

अर्थात् हे कृष्ण मन बड़ा चञ्चल प्रमथन स्वभाव वाला बड़ा दृढ़ और बलवान है। वायु के वेग को रोकने के समान उसको वश

में करना बड़ा दुष्कर है। बताइये महाराज कैसे फिर इसे वश में लाया जाय ?

भगवान ने बड़ी गम्भीरता और शालीनता के साथ जवाब दिया--

असंशयं महाबाहो
मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय
वैराग्येण च गृह्यते ॥

हे महाबाहो ! निःसन्देह मन चञ्चल है और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु हे कौन्तेय यह अभ्यास और वैराग्य से वश में हो जाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि योग-साधना की सफलता अभ्यास पर बहुत कुछ निर्भर है। साधारणतया बिना अभ्यासके मनुष्य किसी भी कला अथवा विद्या में पारंगत नहीं हो सकता। भौतिक सुख सुविधाओं की प्राप्ति हो अथ[illegible] आध्यात्मिक ऐश्वर्यों की उपलब्धि, स[illegible] लिए उसे अभ्यास योग का आश्रय [illegible]गा। विद्यार्थी जीवन को भी समुन्नत और सम्पन्न बनाने के लिए भी प्रयत्नों को पुनः पुनः करना होता है यही अभ्यास है। आचार्य शंकर ने 'अभ्यास योग' की व्याख्या करते हुए कहा है-

चित्तस्य एकस्मिन् आलम्बने सर्वतः समाहृत्य पुनः पुनः स्थापनम् अभ्यासः।

अर्थात् चित्त को सब ओर से खींचकर बारम्बार एक आलम्बन में लगाने का नाम अभ्यास है।

चूंकि हम यहां अभ्यास योग की व्याख्या कर रहे हैं अतः हमारा अभिप्राय भौतिक-साधनों के पुनः पुनः प्राप्त करने के प्रयत्न-रूपी अभ्यास से नहीं अपितु योग ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों से है। इसी हेतु यौगिक क्षेत्र में पुनः पुनः किये जाने वाले प्रयत्नों को ही अभ्यास योग की संज्ञा दी जा सकती है। साधक द्वारा अपने चञ्चल मन को जो समाधि लाभ के लक्ष्य विषय से हटकर अन्य भौतिक सुख-सुविधाओं की ओर दौड़ जाता है, उसे उन उन विषयों से खींचकर लक्ष्य विषय में लगा देने के लिए किये जाने वाले प्रयत्न का नाम ही अभ्यास अथवा अभ्यास योग है। भौतिक सुख सुविधाओं को हासिल करने के लिए जो प्रयत्न [illegible]नः किये जाते हैं वे अभ्यास कहे [illegible] हैं, अभ्यास योग नहीं। श्रीमद्भगवद्गीता में जहां जहां भी अभ्यास शब्द आया है उसका सम्बन्ध योग की दिशा में किये जाने वाले अभ्यास से ही है। इसीलिए भगवान ने कहा है यदि तू परमानन्द अथवा परम पुरुष की प्राप्ति की इच्छा रखता है तो अनन्य भाव से मेरे में अपना मन स्थिर कर। मन स्थिर नहीं होता है तो मनको स्थिर अथवा वश में करने का अभ्यास कर, क्योंकि जिसका [illegible]

नहीं होता ऐसे साधक को योग दुष्प्राप्य ही रहता है। प्राप्य यह उन्हीं साधकों को होता है जो योग-निष्ठ अथवा अभ्यास योगयुक्त होते हैं। श्रीमद्भगवद् गीता के अध्याय आठ में कृष्णने अभ्यासयोग की महिमा की ओर इंगित करते हुए पुनः अर्जुन से कहते हैं—

अभ्यास योग युक्तेन
चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं
याति पार्थानुचिन्तयन् ॥
(गीता ८/८)

अर्थात् हे पार्थ यह सृष्टि का नियम है कि परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग से युक्त, दूसरी ओर न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ साधक परम प्रकाश रूप दिव्य पुरुष को अर्थात् परमेश्वर को ही प्राप्[illegible]

यौगिक क्षेत्र में 'अभ्यास योग' की सीमा में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान के निरन्तर अभ्यास को भी समाहित कर लिया गया है। योग के इन सभी अङ्गों की निरन्तर पालना ही अभ्यास-योग है, ऐसा अधिकारी विद्वानों का कथन है। अध्यात्म साधना के सभी साधकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि मन वृत्तियों से [illegible] नहीं रहता। जल की निरन्तर प्रवाहित धारा के समान असंख्य वृत्तियां इसमें आती जाती रहती हैं। वृत्तियों के इस आवागमन को कोई रोक नहीं सकता। किन्तु इन्हें एक मार्गमें जाने के बजाय दूसरे मार्ग की ओर मोड़ा अवश्य जा सकता है। इसीलिए योग-दर्शनकार ने चित्त-वृत्तियों के निरोध को योग की परिभाषा दी है, यानी योग-साधक का पहला धर्म यह है कि मन अथवा चित्त की वृत्तियों के प्रवाह को जागतिक विषयों की ओर से मोड़कर इन्हें प्रभु - चिन्तन की ओर मोड़ दे। वृत्तियों का परमानन्दरूपी प्रभु के चिन्तन की ध्यान-धारा से युक्त हो जाना ही 'योगश्चित्तवृत्ति निरोध' सूत्र की सार्थकता का प्रथम सोपान है।

इन्द्रियों की विषय - भूमि बाहर है अतः स्वभावतः इन्द्रियां बहिर्मुखी होती हैं। योग-दर्शन के समाधि पाद के सूत्र १२ वें में भी [illegible]न पतञ्जलि ने इनके निरोध के लिए इ[illegible]र्मुखी अथवा ब्रह्मोन्मुखी बनाने के लिए अ[illegible]स और वैराग्य के मार्ग का अवलम्बन लेने का परामर्श दिया है। यथा—

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से उनका (वृत्तियों का) निरोध होता है।

इससे आगे तेरहवें सूत्र में—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

कहकर अभ्यास के रूप को समझाया गया है। अर्थात् चित्त की स्थिति हेतु यत्न करना अभ्यास है। यह अभ्यास दीर्घकालीन निरन्तर श्रद्धा और आदर भाव के साथ किया जाना चाहिए। ऐसा होने पर ही उसे दृढ़भूमि यानी स्थिरता प्राप्त होती है जैसा कि सूत्र चौदहवें में भगवान पतञ्जलिदेव कहते हैं-

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कार-सेवितो दृढभूमिः।

ऐसा नहीं होना चाहिए कि किसी गुण अथवा वृत्ति को ग्रहण करने का अभ्यास एक दो दस दिन किया—कभी किया—कभी न किया। अपितु दीर्घकाल तक निरन्तर बिना किसी अन्तर या बाधा के करते ही रहना चाहिए। योग-साधना के अभ्यासी को- यह अत्यन्त आवश्यक है कि जिस साधन का भी वह अभ्यास करे वह श्रद्धा आदर और धीरज के साथ करे। ऐसा न करने पर दृढ़ भूमिका प्राप्त नहीं होती।

उपर्युक्त शास्त्रीय आदेशों और नियमों के आधार पर जो साधक अभ्यास योग में प्रवृत्त होते हैं वे निश्चित रूप से अपने जीवन लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं।

अतः अभ्यास योग की महत्ता को समझते हुए योग-धर्म के अनुयायी सभी साधक भाई-बहनों को अपनी आवश्यकता के अनुसार इसका अवलम्बन निरन्तर सत्कार-पूर्वक दीर्घकाल तक करते रहना चाहिए। ✲ ✲

❁ ऋतं च सत्यं च ❁

उपनिषदों में ये दो शब्द साथ-साथ आते हैं सत्य और ऋत। इसमें स[illegible] [illegible]ब जानते हैं। जो है सदा के लिए है, उसी[illegible] [illegible]त्य कहते हैं। सत् और सत्य एक हैं[illegible] सृष्टि चलाने में प्रकृति माता जिन सि[illegible] अनुसार काम करती है, उन सिद्धान्तों को सत्य कहते हैं। सत्य के पेट में ऋत आ[illegible] जाता है।

सत्य तो बाह्य सृष्टि का या अन्तः सृष्टि का नियम, कानून अथवा धर्म है। सत्य शब्द स्थिति सूचक हो सकता है।

ऋत भी है तो सत्य ही, लेकिन यह शब्द ऋ धातु पर से आया है। ऋ का अर्थ है चलना। क्रिया होना अथवा करना। सत्य अगर स्थिति सूचक है तो 'ऋत' शब्द गति सूचक है। ऋत और सत्य मिल करके अन्तर बाह्य सृष्टि का सम्पूर्ण कानून बनता है।

इसलिए उपनिषद साहित्य में और बाद में भी सत्य और ऋत दो शब्द साथ-साथ आते हैं।

उद्बोधनाष्टक

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह की पचरङ्गी कर दूर,
एक रङ्ग तन, मन, वाणी में भर ले तू भरपूर।
प्रेम पसार न भूल भलाई, वैर-विरोध बिसार,
भक्ति-भाव से भज शंकर को धर्म दया उर धार ॥

देख कुदृष्टि न पड़ने पावे पर-वनिता की ओर,
विषम किसी को नहीं सुनाना कोई वचन कठोर।
अबला, अबलों को न सताना पाप बड़ा अधिकार,
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार ॥

जाय न उलझें मतवालों के भ्रम, पाखण्ड, प्रमाद,
तनिक न जीवन-काल बिताना, कर कोरे बकवाद।
बाँटें भुक्ति ज्ञान बिन उनको दान अपात्र, लबार,
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार ॥

हिंसक, मद्यप, आमिष-भोजी, कपटी, वञ्चक, चोर,
ज्वारी, पिशुन, चबोर, कृतघ्नी, जार, हठी, कुलबोर।
क्रूर, आततायी, [illegible] इन सब को धिक्कार,
भक्ति-भाव से भज शङ्कर [illegible]र्म दया उर धार ॥

जो सब छोड़ सदा फिरते है [illegible] देश-विदेश,
तर्क सिद्ध श्रेयस्कर जिन से मि[illegible]ते हैं उपदेश।
ऐसे अतिथि महापुरुषों का कर सादर-सत्कार,
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार ॥

माता, पिता, सुकवि, गुरु, राजा कर सबका सम्मान,
रुग्ण, अनाथ, पतित, दीनों को दे धन, भोजन, दान।
सुभट, गदारि, शिल्पकारों को पूज सुयश विस्तार,
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार ॥

—महाकवि श्री शङ्कर

मेघ गर्जना क्या सुनाती है

श्री काका कालेलकर

प्रजापति सचमुच सब तरह की प्रजाओं का पिता होता है। देव, मनुष्य और असुर मिलकर प्रजापति के पास गये। नियम के अनुसार शिष्य धर्म का पालन करने के लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार किया, तब सवाल पूछने का अधिकार उन्हें प्राप्त हुआ।

प्रथम देव प्रजापति के पास गये और कहा—आप हमें उपदेश दीजिए। हमारा प्रधान जीव धर्म क्या है यह हमें समझा दीजिए।

प्रजापति ने प्रसन्न एवं गम्भीर होकर एक ही अक्षर सुनाया 'द'। देव सन्तुष्ट हुए। प्रजापति ने तब पूछा क्या समझे हो? विलासी देवों ने अन्तर्मुख होकर 'द' का अर्थ समझ लिया था। उन्होंने कहा आपने हमें आदेश दिया है 'दाम्यति' यानी दमन करो। इन्द्रियों का दमन करो। वासना पर विजय पाकर मोक्ष के योग्य हो जाओ। प्रजापति ने प्रसन्न होकर कहा—बहुत अच्छा तुम लोग ठीक समझ गये हो। यही मेरा आदेश था।

बाद में मनुष्य प्रजापति के सामने खड़े हुए। उन्होंने देवों के समान याचना की—हमें हमारा जीवन धर्म समझा दीजिए। प्रजापति ने वही आदेश दुहराया- 'द'। मनुष्य सन्तुष्ट होकर लौट चले। प्रजापति ने रोककर पूछा-तुम क्या समझे। लोभ के वशीभूत मानव ने जवाब दिया—हम तो लेने के आदी हैं जो मिला सो ले लेते हैं। संग्रह करते हैं। इसलिए आपने हमें आदेश दिया—'दत्त' यानी देते जाओ, दान करो, लेना तो हम जानते ही हैं दे-देकर सब कुछ दे देना और अपरिग्रही बनना यही आपका आदेश है। "बिल्कुल ठीक" तुम लोग अच्छी तरह समझे हो। सन्तुष्ट प्रजापति ने अपनी सम्मति देदी।

इसके बाद प्रजापति के सामने उपस्थित हुए असुर। फिर वही प्रश्नोत्तरी हुई और प्रजापति ने उनको भी उपदेश दिया 'द'। असुरों के चेहरों पर सन्तोष देखकर प्रजापति ने पूछा—'तुम क्या समझे!

क्रूर असुरों ने अन्तर्मुख होकर कहा ... दिन रात कठोर हिन्सा ... । इसलिए आपने हमें समझाया है 'दया' ... नी दया करो। सभी के प्रति मनमें करुणा लानी चाहिए। हिंसा से हमारा उद्धार नहीं होगा अहिंसा ही जीवन का सर्वस्व है।"

उनको भी प्रजापति ने कहा, "ठीक है। मेरा भाव तुम ठीक समझे हो।"

आकाश की बिजली ने प्रजापति रूपी गुरु और मानव कुल रूपी शिष्य का यह संवाद सुना। उसने सोचा एक ही अक्षर के द्वारा विविध-स्वभाव के जगत को धर्म और कर्त्तव्य पालन का उपदेश मिला है। इसी का मैं जोरों से प्रचार करूं। आकाश के बादलों द्वारा उसने द-द-द-द की गर्जना की और सारी सृष्टि समझ गई कि विलासिता छोड़कर इन्द्रिय दमन करना चाहिए। लोभ पर विजय पाकर दान देना चाहिए। और कठोरता क्रूरता और हिंसा का त्याग करके दया धारण करना चाहिए।

आत्म संयमपूर्वक जीवन शुद्ध करके सब जीवों के प्रति दया करुणा, प्रेम और आत्मीयता बताकर निष्काम सेवा समर्पण करते रहना चाहिए।

❈ गुरु-चरण वन्दना ❈

❀ साहित्याचार्य श्री जनकप्रसाद द्विवेदी 'विदेह'

गुरु के चरणों का अभिनन्दन ।
करूँ मैं बार–बार वन्दन ॥

जलज पद गंग धरा आई,
जगत ने है मुक्ती पाई,
चरन नख ज्योति जहाँ छाई,
सकल विद्या है दरसाई,
सुखद शीतल जैसे चंदन ।
करूँ मैं बार–बार वन्दन ॥

मोह अज्ञान हटा देते,
सत्य का तत्व बना देते,
जीवन अमरत्व बना देते,
रण में जब अपनी ले
लगता जैसे नंदन ।
करूँ —बार वन्दन ॥

जिन्हें सुर मुनि नर ध्याते हैं,
किन्तु वे पार न पाते हैं,
ज्योति अनुपम है उस छवि की,
ज्ञान का मार्ग लखाते हैं,
उन्हीं का शत शत अभिनन्दन ।
करूँ मैं बार–बार वन्दन ॥

सहजावस्था

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा एम. ए. एम-एड.

साधना का प्रारम्भ प्रयत्न से होता है और उसकी परिणति सहज रूप में होती है। अपना निजी स्वरूप, चेतन स्वरूप, माया परिच्छन्न से भिन्न रूप सहज रूप है। सहज स्वरूप में स्थित होने के लिए बाह्यावरणों और मलों को हटाने का काम साधना कहलाता है। जैसे किसी तालाब में हवा के चलने से तरंगें उठने लगें तो तालाब के जल का असली रूप तरंगों में अलक्षित हो जायगा। तरंगों का स्वरूप ही तालाब के जल का रूप दिखाई पड़ने लगेगा। हवा ठहर जाय और लहरें शान्त हो जांय फिर जो कुछ दिखाई देगा वह तालाब के जल का सहज स्वरूप होगा। हवा का ठहराव और तरंगों का निरोध यही चित्त-[illegible] निरोध है जिससे सहजावस्था का [illegible] होता है। यह स्थिति कहीं बाहर से [illegible] नहीं आती पहले ही प्राप्त स्थिति को जाना जाता है, माना जाता है और उसी में पहुँचकर रहा जाता है। एक क्षण को भी उससे अलग न हों, स्वयं चालित स्थिति (Automation) हो जाय। जिस प्रकार शरीर में रसरक्त का बनना, हृदय स्पन्दन तथा श्वासोच्छ्वास स्वतः होता रहता है। उसके चाहने या न चाहने का प्रश्न कहां पैदा होता है। उसी प्रकार ध्येयालम्बन में चित्त निरालम्ब अवस्था में पहुँचकर स्थिर हो जाय तो उस स्थिति को आत्म-स्थिति, सहज-स्थिति, अमनस्क स्थिति, उन्मनी स्थिति, तुर्यावस्था, निरतावस्था आदि-आदि नामों से विभिन्न शास्त्रों में कहा गया है।[1] इस सहजावस्था की प्राप्ति किसी-किसी भाग्यशाली को श्री गुरुदेव की कृपा से प्राप्त हो पाती है। यहां यह शंका होता है कि अपने निजी रूप की प्राप्ति सबको होनी [illegible] किसी-किसी को ही [illegible]ना [illegible] ही आना नहीं हुआ [illegible]ा ? इसका कारण स्पष्ट है—'वस्तु कहीं ढूंढे कहीं, केहि विधि आवै हाथ।' दूसरे जो चीज जितनी निकट होती है उसके सम्बन्ध में उतना ही अज्ञान होता है। हम अपने साथ रहने वाले शरीर में जब कोई गड़बड़ी हो जाय तो उसे समझने और ठीक कराने के लिए किसी दूसरे का सहारा लेते हैं। जब

१— हठयोग प्रदीपिका

को अपने सम्बन्ध में ही भ्रम और संशय है इसलिए भी वह अपने सहज-स्वरूप से वंचित रहता है। एक अन्य यह कारण भी है कि व्यक्ति कर्मों का साथ करते-करते कर्म पर अधिक भरोसा करता है। होने वाली चीज उसे गलत लगती है और स्वयं करने वाली वस्तु अधिक प्रामाणिक। जो स्वतः सिद्ध है उसमें होने का व्यापार तो है, करने का वहां कम काम है। सहजावस्था प्राप्त की नहीं जाती। यह स्वतः प्राप्त है या यों कहिये गुरुदेव की कृपा से अनुभव में आ जाती है।

भगवान बुद्ध के बड़े भाई आनन्द उनके सर्व प्रथम शिष्य हुए थे। एक दिन गुरु और शिष्य एक पर्वतीय प्रदेश की यात्रा पर जा रहे थे। मार्ग में एक झरने को पार करते हुए वे दोनों आगे चलते चले गये। कुछ दूर जाकर भग[illegible] ने आनन्द से कहा—'भद्र! मुझे प्या[illegible] तुरन्त जल लाओ।' [illegible] ने आश्चर्य किया कि झरने से होकर अभी आये हैं, वहां इन्होंने जल क्यों नहीं पिया? गुरु वचनों के पालनार्थ पात्र लेकर वह झरने की ओर गया। वहां जाकर देखा कि एक बैलगाड़ी जल में से निकली है जिससे जल गन्दा हो गया है। पीने योग्य नहीं है। आनन्द वहां से वापिस लौट आया और भगवान बुद्ध से बोला—भगवन्! जल पीने योग्य नहीं है? अतः मैं बिना जल के लौट आया हूं। भगवान बुद्ध ने पुनः वहाँ जाने का आदेश दिया। आनन्द वहां फिर गये और पानी की गन्दगी देखकर बिना जल लिये फिर लौट आये। भगवान बुद्ध ने फिर उन्हें फिर भेजा। तीसरी बार भी वही परिणाम हुआ। चौथी बार भगवान बुद्ध ने सख्ती से उन्हें आदेश दिया कि वे गन्दा-वन्दा कुछ नहीं जानते। पीने को पानी चाहिये। इस बार तुम्हें जल लेकर आना होगा चाहे कुछ देर भले हो जाय आनन्द को बात समझ में आ गई। वे झरने के किनारे बैठकर पानी साफ होने की प्रतीक्षा करने लगे। धीरे-धीरे मिट्टी नीचे बैठ गई और हलचल बन्द होते ही पानी शान्त होते ही शुद्ध हो गया। आनन्द कमण्डलु में भरकर जल लाये और भगवान बुद्ध को आदर के साथ समर्पित किया। भगवान बुद्धदेव उनकी ओर [illegible]खकर हँसे और बोले मुझे जल नहीं चाहिये। [illegible] साधना का रहस्य समझाना था। तुम्हें [illegible] को तितिक्षा के द्वारा पानी की तरह [illegible] करना है। शान्त होते ही वह ग्राह्य हो जायगा। उसमें जीवन-शक्ति तृप्त होने लगेगी। शान्त चित्त की सहजावस्था होती है। अपने इष्ट में चित्त एक दूध और जल, नमक तथा जल की तरह एक रस हो जाता है तब सहजावस्था आती है। गोपियों को सहजावस्था प्राप्त थी—

चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात।
हृदयमें वह श्याममूरति छिन न इत उत जात॥

अन्दर जगत में शून्य महल में सहज ही अपने स्वरूप के दर्शन पाकर साधक निहाल हो जाता है। संत दादू कहते हैं--

दादू काया अन्तरि पाया, निरन्तर निरधार।
सहजै आप लखाइया, ऐसा समरथ सार॥
दादू काया अन्तरि पाइया, त्रिकुटी केरे तीर।
सहजै आप लखाइया, व्याप्या सकल शरीर॥
दादू काया अन्तरिपाइया, अनहद बेन बजाय।
सहजै आप लखाइया, शून्य मण्डल में जाय॥

हर श्वास में अपने इष्ट का चिन्तन और स्मरण करने से अजपा जप के प्रभाव से एक समय स्वतः ऐसी अवस्था आ जायगी कि बिना धारणा ध्यान के ही चलते-फिरते, उठते बैठते प्रिय के दर्शन होते रहेंगे। दादू कहते हैं-

सासै सास संभालता, एक दिन मिलिहै आय
सुमिरन पैंडा सहज का सतगुर दिया बत

अब साधक कबीर की 'उलटी ... कहने लगता है। अपनी दृष्टि पलट कर ... कृपा से दिव्य-दृष्टि पाकर ब्रह्म-दृष्टि प्राप्त कर लेता है। उसके सब कर्म सहज होने लगते। मन उन्मनी अवस्था में पहुँच कर आत्माकार वृत्ति में रमण करने लगता है। साधक जीभ से जप नहीं करता वृत्ति ही स्वयं जप ध्यान करती रहती है। दादू कहते हैं---

अन्तरिगत हरि हरि करै,
तब मुखकी हाजति नाहि।
सहजै धुनि लागी रहै,
दादू मनही मांहि॥
सबद अनाहद हम सुन्या,
नखशिख सकल शरीर।
सब घट हरिहर होत है,
सहजै ही मन थीर॥
जहां राम तहाँ मन गया,
मन तहाँ नैना आहि।
जहाँ नैना तहां आतमा,
दादू सहजि समाइ॥
सत-गुरु भेद लखाइया,
तब पूरा पाया।
नैननि ही निरखूं सदा,
घरि सहजै आया॥
रोम-रोम मैं रमि रह्या,
सो जीव ...।
... पीव न्यारा नहीं,
सब संग बसेरा॥
सुन्दर सो सहजैं रहै,
घटि अन्तर जामी।
दादू सोई देखिहौं,
सारौं संगि स्वामी॥

मन की माला सतगुर की कृपा से सुरति को निरत में अर्पित कर बिना हाथ के जपता रहे तो यह अजपा जाप अनाहद नाद तथा सहज समाधि प्राप्त करा देता है—

सतगुर माला मन दिया,
पवन सुरति सूं पोइ ।
बिन हाथों निसदिन जपै,
परम जाप यूं होइ ॥

सहजै सुमिरन हिरदै होई ।
बाहिर भेद न जानै कोई ॥
सोवत जागत डोरी लागी ।
बन बस्ता की शंका भागी ॥
रसना जाप अजपा पावा ।
बाहिर साधन सकल बिलावा ॥
जाग्यो प्रेम नेम रह्यो नाहीं ।
पाई राम धाम घट माही ॥
ऐसो पद विरला जन पावै ।
सो भव-सागर नाही आवै ॥

सन्त कबीर भी सहजावस्था को चरम उपलब्धि मानते हैं । यह मन बाह्य विषयों के पीछे भागता-भागता पागल हो गया है । गुरुदेव [illegible] का यह क्रम उलट [illegible] तो मन [illegible] हो जाता है और अपने इष्ट [illegible] साथ बारह महीने बसन्त खेलता रहता है। परात्पर तत्व तभी उपलब्ध होता है जब साधक पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार को अपने कारण में लय कर दे तो निर्वात स्थान में रखे हुए निष्कम्प दीप शिखा की तरह मन को उन्मनी भाव में स्थिर कर दे। उपनिषदों में इस अवस्था को स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टन्ति तामाहुः परमां गतिं ।' सन्त कबीर भी यही बात इन शब्दों में कहते है—

सहज समाधी उन्मनि जागे,
सहज मिलै रघुराई ॥

सहजावस्था मन के स्थिर होने से गुरु-कृपा से मिलती है। ध्यान, भजन, जप और तप का परम फल सहज समाधि है। कबीरदास कहते है—

सन्तो सहज समाधि भली है ।
जब से दया भई सतगुरु की,
सुरति न अनत चली है ।
जहाँ-जहाँ जाऊँ सोइ परिक्रमा,
जो कछु करों सो पूजा ॥
घर बनखण्ड एक सम लेखौं,
भाव मिटावौं दूजा ॥
[illegible]द निरन्तर मनुवा राता,
मलिन वासना त्यागी ।
ज[illegible]तै, उठत-बैठत,
ऐसी तारी लागी ॥
आँख न मूँदूँ, कान न रूँधूँ,
काया कष्ट न धारूँ ।
उघरे नैननि साहेब देखूं,
सुन्दर बदन निहारूँ ॥
कहहि कबीर यह उन्मनि रहनी,
सो परगट करि गाई ।

दुख सुख के वह परे परम पद,
सो पद है सुखदाई ॥

सहजावस्था की साधना—

लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार के विषयों से जब मन वैराग्ययुक्त हो जाय तो नादानुसंधान, शाम्भवी मुद्रा, खेचरी मुद्रा के अभ्यास तथा केवल कुम्भक प्राणायाम के द्वारा मन उन्मनी अवस्था में पहुँचकर ब्रह्म-द्वार में निरालम्ब हो जाता है। वैराग्य रूपी बल से प्राण और अपान की एकता रूपी क्षेत्र में चित्त रूप बीज के बोने पर उन्मनी रूपी सकल कामनाओं को पूर्ण करने वाली कल्पलता शीघ्र ही उत्पन्न हो जाती है। जैसा कि योगी स्वात्माराम ने हठयोग प्रदीपिका में संकेत किया है—

तत्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदा-
सीन्यं जलं त्रिभिः
उन्मनी कल्पलतिका
सद्य एव प्र[illegible]

साधक चाहे जो साधन करता [illegible] आसन, प्राणायाम, बन्ध मुद्रा, जप तप, ध्यान आदि कुछ भी--जब तक प्राणवायु सुषुम्ना मार्ग से चलकर तीनों ग्रन्थियों को बेधती हुई ब्रह्मरन्ध्र में नहीं जाती तथा बिन्दु का नाद में मन के साथ लय नहीं होता तथा ध्यान में ध्येयाकार वृत्ति का एकरस सतत प्रवाह नहीं होता तब तक अपने को योगी, ज्ञानी या ध्यानी मानना पाखण्ड के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

यावन्नैव प्रविशति
चरन्मारुतो मध्यमार्गं।
यावद्बिन्दुर्न भवति दृढ़-
प्राणवात प्रबन्धात् ॥
यावद्ध्याने सहज सदृशं
जायते नैव तत्वम्।
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं
दम्भमिथ्या प्रलापः।

— वही ११४

सहज समाधि या उन्मनी भाव की अवस्था श्रद्धापूर्वक नियम से अभ्यास करने पर गुरु-कृपा का लाभ प्राप्त करने से अवश्य मिल जाती है। पश्चिमोत्तान आसन तथा वज्रासन में स्थित होकर शक्तिचालिनी मुद्रा का प्रति-[illegible] घण्टा अभ्यास [illegible] वायु सुषुम्ना मार्ग से चलने लगत[illegible] [illegible]सन में बैठकर नित्य नियम से केवली कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करते-करते कुण्डलिनी जगने पर ध्यानयोग से सहज स्थिति प्राप्त हो जाती है। यह संसार मन की ही रचना है। मन के न रहने पर द्वैतज्ञान भी नहीं होगा। योगशास्त्र का सिद्धान्त है कि—

मनः स्थैर्यं स्थिरो वायु-
स्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्।

बिन्दु स्थैर्यात् सदा सत्त्वं
पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥
इन्द्रियाणां मनो नाथो
मनोनाथस्तु मारुतः ।
मारुतस्य लयो नाथः
स लयो नादमाश्रितः ॥
—हठयोग/२८-२९

अर्थात् मन के स्थिर होने पर प्राणवायु स्थिर हो जाती है। प्राणवायु के स्थिर होने पर बिन्दु भी स्थिर हो जाता है। बिन्दु की स्थिरता से बलों का आवर्धन होने से शरीर स्थिर हो जाता है। इन्द्रियों का स्वामी मन है और मन का स्वामी प्राण, प्राण का स्वामी लय है तथा लय नाद के अधीन है। विषयों की विस्मृति का नाम लय है। मन को प्राण-लय से लय करने का अभ्यास हठयोग कह- [illegible] बाहर प्राण रुके [illegible] प्रक [illegible] भी प्राणवायु स्थिर हो [illegible] प्राण के स्थिर होते ही मन स्थिर हो जाता है। स्थिर अवस्था में कुम्भ की तरह स्वतः पूर्ण भाव में मन स्थिर होकर आनन्द से भरपूर बाह्य-साधन की अपेक्षा बिना रह जाता है।

सिद्धासन में स्थित होकर गुरुमन्त्र का जप करता रहे। एक करोड़ जप होने पर वायु सुषुम्ना में चल पड़ती है। गुरुदेव की कृपा से तत्काल यह अवस्था प्राप्त हो सकती है। साधनों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने में भी उनकी कृपा अति आवश्यक है। मनोलय द्वारा प्राण-लय करने वाला साधन राजयोग या मन्त्रयोग कहलाता है। राजयोग से शीघ्र सहजावस्था प्राप्त की जा सकती है। जैसे भँवर गुञ्जार करता-करता मकरन्द पान करने लगता है और मकरन्द पान करते ही शान्त स्थिर हो जाता है वैसे ही मन्त्र जप से आनन्द में डूबकर चित्त स्थिर हो जाता है और इष्टाकार-वृत्ति बन जाती है। कमठ न्याय भ्रमर-कीट-न्याय तथा मणि-सर्प न्याय, रमणीजार-न्याय विभिन्न सम्प्रदायों की साधना में प्रचलित हैं। सन्त योगियों की जप और सुमिरन की पद्धति बहुत सहज प्रणाली है। किसी सन्तने साधना रहस्य इन शब्दों में बताया है—

ज्यों तीया पीहर बसै,
मन मन राखै पिय माँहि।
ऐसे नर जग में बसैं,
मन राखै हरि माँहि ॥

[illegible] पलटू ध्यान योग के द्वारा सहजावस्था [illegible] प्राप्त करने का उपाय बताते हैं—

कमठ द[illegible]ट को लावई, सो ध्यानी परमान।
सो ध्यानी परमान, सुरति से अण्डा सेवै ॥
आप रहै जल माहि, सूखे में अण्ड देवै।
अस पनिहारी कलस धरि, मारग में आवै ॥
कर छोड़ै, मुख वचन, सुरति कलसा में लावै।
फनि मणि धरयि उतारि, आप चरनेको जावै॥

वह नहिं गाफिल पड़े, सुरति मनिमाँहि रहावै॥
पलट् कारज सब करै, सुरति रहै अलगान।
कमठ दृष्टि जो लावई, सो ध्यानी परमान॥

लम्बी दाढ़ी और भगवा कपड़े से कोई योगी नहीं हो जाता। जो अपने अभ्यास में तत्पर होकर गुरुकृपा का पात्र बन जाता है वह चाहे किसी वेष में रहे वह योगी बन जाता है। नारद जी भक्तिसूत्र में कहते हैं कि—
'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव'……तदेव साध्यताम्। तदेव साध्यताम्।' अर्थात् सिद्धों की कृपा से सिद्धावस्था प्राप्त होती है अतः उनकी कृपा प्राप्त करने का साधन ही सबसे अच्छा साधन है। उसी से सहजावस्था मिलती है। सहजावस्था सर्वोत्तम स्थिति है ध्यानधारणा मध्यम तथा शास्त्रचिंतन अधम। जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है— उत्तम सहजावस्था, मध्यमा ध्यान धारण।

❁ पुरुषार्थ और भाग्य ❁

हम अपने भाग्य के निर्माता हैं और भविष्य में भी यही दशा रहेगी। हमारे द्वारा किया गया हर कर्म जब एक बार कर लिया जाता है तो उसका कुछ फल या परिणाम होता है, जो हमारे पक्ष में हो या विपक्ष में। पर यह सम्भव नहीं है कि हम भोग से बच सकें, चाहे हम आनन्द उठायें या दुःख सागर में गोते खाते फिरें। जहां तक कर्मों के फल का सम्बन्ध है यह निश्चित रूप से हमें मिलना है और इसके द्वारा हमारी स्वतन्त्रता पर बन्धन लगते हैं, परन्तु इसके साथ-साथ हमको अनेक ऐसे कर्मों की स्वतन्त्रता भी मिलेगी कि हम अपने कर्मों का फिर निर्माण कर स[illegible] [illegible]विष्य अपने वर्त[illegible] बना सकें।

साधारणतया व्यवहार के [illegible]न जिसे भाग्य या प्रारब्ध कहते हैं, वह भी हमारा वह पुरुषार्थ है जिसके द्वारा [illegible] अपने भविष्य को उत्तरोत्तर अच्छा बनाते हैं और इसके द्वारा अनेक भूतकाल में किए हुए पापों का निराकरण करते हैं।

हमको काम करने की स्वतन्त्रता मिली है, और इसका उपकार मानते हुए हमको अपने दयालु परम प्रभु पर पूरा विश्वास रखना चाहिये, वह दयालु भी है और न्यायकारी भी। उसकी दया और उसकी न्याय प्रियता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दयाहीन न्याय और न्यायहीन दया का कोई अर्थ नहीं है। न्याय ही परम दया है, और दया ही न्याय है।

— स्वामी श्री सत्यप्रकाश जी सरस्वती

जैन-तन्त्र : एक समीक्षात्मक सर्वेक्षण

❀ डा० श्री रुद्रदेव त्रिपाठी, आचार्य, एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्.

(१) मानक-परम्परा—

भारतीय धर्मों में 'वैदिक जैन एवं बौद्ध' धर्म की तीन धारायें सुप्रसिद्ध है और ये तीनों अपने-अपने वाङ्मय के रूपमें निरन्तर बहती हुई समस्त जन-जीवन को आप्यायित कर रही है। विश्व के विशिष्ट धर्मों में अन्य प्रधान धर्मों के समान ही जैन धर्म ने भी अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया है तथा चिंतन एवं मनन की सभी दिशाओं में जैन साहित्य ने पर्याप्त प्रसार पा लिया है।

जो साहित्य गतिशील होता है उसमें प्र[illegible] करती है, आ[illegible] के [illegible] है तथा एकता में [illegible] का विकास होता रहता है। जैन वाङ्मय में भी इन्हीं गुणों के कारण व्यापक तत्वों का समावेश परिलक्षित होता है। द्वादशांग एवं उपांगों से अनुप्राणित आगमों में वे सभी तत्व सहज उपलब्ध हो जाते हैं जिनका परिज्ञान इहलोक तथा परलोक दोनों के लिए उपादेय होकर चरम लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होता है।

अनेकविध धार्मिक एवं उपासनामूलक शास्त्रों की सुदीर्घ शृंखला में 'जैन-तन्त्र' साहित्य भी विपुल परिणाम में प्राप्त होता है जिसमें लघु से लघु और महान से महान प्रयोग विधानों की शास्त्रीय परिपाटी का विधिवत् उल्लेख हुआ है। साथ ही ऐसे भी अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिनमें साधकों ने अपनी साधना के बल पर बड़े से बड़े कार्यों को सिद्ध करके एक मानक परम्परा स्थापित की। लौकिक और लोकोत्तर चरित्रों के कारण जन-मन को जैन-धर्म के प्रति आकृष्ट करने, जन-जीवन में व्याप्त अश्रद्धा को उखाड़ फेंकने तथा चिर-स्थिर धर्म-निष्ठा, [illegible]स्त्र-निष्ठा, गुरु निष्ठा आदि को बनाये [illegible]में तन्त्र-शास्त्र का आश्रय जैन-साधकों क[illegible] तो एक अमोघ अस्त्र भी बना है तो उपा[illegible]ना-काण्ड में अन्य धर्मों के समान ही जैन धर्म [illegible]भी तन्त्र शास्त्र के सभी अंग-उपांग समाहृत हुए हैं।

(२) सम्प्रदायगत शाखा-प्रशाखायें—

जब कोई बीज अंकुरित होता है तो वह कालक्रम से पत्रित, पुष्पित और फलित होता हुआ शाखा प्रशाखाओं से व्याप्त होकर एक

महान् वृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है। ऐसे वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं का भी अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व धीरे-धीरे निखर रहता है। जैन धर्म में भी इसी प्रकार सम्प्रदायगत न्यूनाधिक मान्यताओं के आधार पर कुछ शाखा-प्रशाखायें स्थिर हुई हैं जिनका संक्षिप्त विचार इस प्रकार है।

प्रमुख रूप से १. दिगम्बर, २. श्वेताम्बर एवं ३. स्थानकवासी' के रूप में इस धर्म की तीन प्रसिद्ध शाखायें हैं जिनमें प्रथम दो मंदिर एवं मूर्ति को मानते हुए आगमों की कुछ न्यूनाधिक मान्यता के कारण पार्थक्य रखती हैं जबकि तीसरी शाखा मन्दिर-मूर्ति को नहीं मानती है। समान सिद्धान्त एवं आस्था के रहते हुए भी कतिपय शास्त्रीय दृष्टिकोण से उद्भूत वैमत्य के कारण, क्रियाओं की पद्धतिगत भिन्नता के कारण एवं तत्र तत्र तर्क-वित[illegible] र्कोपादित वैचारिक विविधता के कारण [illegible] भी कुछ प्रशाखायें आज जैन समाज [illegible] हो रही हैं। किन्तु सन्तोष का विष[illegible]ह है कि सभी की दृष्टि 'नदीमुखेनवै समु[illegible]विशत' की तरह एक लक्ष्यी ही है।

एक सुदीर्घकाल से चली आ रही आचार्य परम्परा के द्वारा समय-समय पर समाज को संघटित करने के लिए किये जाने वाले प्रयासों के फलस्वरूप 'गच्छ' बने। यतियों और भट्टारकों ने अपने दल तैयार किये और श्रावकों में भी ऐसे अच्छे विधिज्ञों का समुदाय सन्नद्ध हुआ जिसके कारण छोटी-बड़ी अनेक प्रशाखायें कर्मरत हुई एवं अन्यान्य स्थापनाओं के साथ ही ग्रन्थ-निर्माण-प्रक्रिया में भी पीछे नहीं रही। यह भी एक कारण तन्त्र-शास्त्र की प्रवृद्धि में सहयोगी बना और जैसा जिसने सुना, देखा और समझा उसे पुस्तकारूढ़ करने में संकोच नहीं किया।

(२) 'तन्त्र' : शब्दार्थ, परिभाषा और आयाम—

तन्त्र शब्द के अर्थ बहुत विस्तृत हैं; उनमें से सिद्धान्[illegible] प्रबन्ध, व्यवहार, नियम, [illegible]ा, शिवशक्ति आ[illegible]र [illegible]चार आदि का विधान क[illegible]स्त्र आगम, कर्मकाण्ड पद्धति और अनेक उद्देश्यों का पूरक उपाय अथवा युक्ति प्रस्तुत विषय के सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण हैं।[1] व्युत्पत्ति की दृष्टिसे—

१— तन्त्रं कुटुम्ब कृत्ये च सिद्धान्ते चौषधोत्तमे।
प्रधाने तन्तुदाये च शास्त्रभेदे परिच्छदे॥
श्रुतिशाखान्तरे हेतावुभयार्थ-प्रयोजने।
इति कर्त्तव्यतायां च ....॥ —मेदिनी कोश

१— तननं तन्त्रम् ।

२— तन्मते अनेनेति तन्त्रम् ।

३— तन्त्रणं तन्त्रम् ।

४— तन्त्रयते अनेनेति तन्त्रम् ।

५— तनोति त्रायते च इति तन्त्रम् ।

इन व्युत्पत्तियों में तनु विस्तारे, तन्त्रिधारणे और तन् पूर्वक त्रङ् पालने धातुओं का प्रयोग हुआ है। वैसे यह शब्द 'तन्' और 'त्रै' इन दो धातुओं से बना है, अतः विस्तारपूर्वक तत्व को अपने अधीन करना यह अर्थ व्याकरण को दृष्टि से स्पष्ट होता है, जबकि 'तत्' पद से प्रकृति और परमात्मा तथा 'त्र' से स्वाधीन बनाने के भाव को ध्यान में रखकर 'तन्त्र' का अर्थ देवताओं के पूजा आदि उपकरणों से प्रकृति और परमेश्वर को अपने अनुकूल बनाना होता है। तथा परमेश्वर की उपासना के लिए जो उप[illegible] साधन है वे भी '[illegible] ते हैं। इन्हीं [illegible] ध्यान [illegible] शास्त्रों में तन्त्र की प[illegible] दी गई है—

सर्वेऽर्था येन तन्यन्ते
त्रायन्ते च भयाज्जनान् ।
इति तन्त्रस्य तन्त्रत्वं
तन्त्रज्ञाः परिचक्षते ॥

अर्थात् जिसके द्वारा सभी मन्त्रार्थों-अनुष्ठानों का विस्तारपूर्वक विचार ज्ञात हो तथा जिसके अनुसार कर्म करने पर लोगों की भय से रक्षा हो वही 'तन्त्र' है, तन्त्र-शास्त्र के मर्मज्ञों का कथन है। 'कामिक आगम' के तन्त्रान्तर पटल में भी—

तनोति विपुलानर्थान्
तत्वमात्रसमन्वितान् ।
त्राणं च कुरुते यस्मात्
तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

कहा गया है है जिसका सारांश भी तत्वपूर्ण विपुलार्थों का विकास एवं संरक्षण ही 'तन्त्र' की परिभाषा व्यक्त करता है।

जिस प्रकार 'तन्त्र' शब्द अपने में अनेक अर्थों को धारण करता है उसी प्रकार तन्त्र-शास्त्र का आयाम भी अति विस्तृत है। इसमें 'तनन और त्राण' धर्म रूप तत्वों का समावेश होने से अन्तर्दृष्टि, दिव्य-दृष्टि और दूरदृष्टि सम्पन्न ऋषियों और मनीषियों ने लोक-[illegible]याणकारी सभी विषयों का तन्त्र में प्रवेश [illegible]।

[illegible] रूप से तन्त्र के—१. ज्ञान और २. वि[illegible] ऐसे दो भेद हैं तथा इनके भी प्रत्येक के दो-दो प्रभेद होते हैं। यथा ज्ञान के १. उपासना रूप बहिर्याग तथा २. अन्तर्याग। विज्ञान के १. मनोविज्ञान रूप मन्त्र शास्त्र और २. कर्मविज्ञान रूप और चिकित्सा-शास्त्र। बहिर्याग आचार-शास्त्र का अनुगमन

करता है तो अन्तर्याग योग-शास्त्र का। मन्त्र शास्त्र अध्यात्म शास्त्र का पोषक है तो चिकित्साशास्त्र जीवन-शास्त्र का। इस प्रकार तन्त्र में उभय को सुसाध्य बातों का संग्रह होता है।

साधारण रूप से तन्त्र की परिधि में—१. मन्त्र, २. यन्त्र, ३. तन्त्र, (क्रिया), ४. योग और ५. स्तोत्र। पाँच अङ्ग ग्राह्य हैं। अन्य प्रकार से १. गीता, २. सहस्रनाम, ३. स्तव, ४. कवच और ५. हृदय को पंचांग कहा गया है जबकि अन्यत्र १. पटल, २. पद्धति ३. कवच, ४. सहस्रनाम तथा ५. स्तोत्र को पंचांग कहा है।

वैसे १. श्रद्धा, २. धैर्य, ३. गुरु-भक्ति और ४. इष्ट भक्ति के साथ स्थान, मन, द्रव्य तथा क्रिया शुद्धि पूर्वक आसन, आचार, प्राणक्रिया अर्चना, मुद्रा, जप, होम, तर्पण, मार्जन, ब्राह्मण-भोजन, स्तुतिपाद, ध्यान आदि भी तन्त्र के ही आयाम में आते हैं तथा तन्त्र के नाम से व्यवहृत विभिन्न प्रक्रियायें—मा[illegible] मोहन, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चारण, [illegible]रण, आकर्षण, यक्षिणी आदि साधन, [illegible]ायन कर्म, इन्द्रजाल, जयवाद, वाजीकर[illegible], मूल-ग्रहादि वारण, भय निवारण, विष प्रतीकार, अभिषेक, कंकण, कवच, पट्ट, यन्त्र, रत्न, औषधि, फल, कपर्दिका, शंख, रुद्राक्ष, श्वेतांकुर, हस्त, नख, रोम, चर्म, धातु, दिव्य वृक्ष बीज आदि धारणीय एवं साधनीय वस्तुयें, लेपन, अञ्जन, पिच्छक, कीलारोपण, पताका आदि से सम्बद्ध सभी कार्य-कलाप तन्त्र के ही अंग माने गये हैं। ज्योतिष, शकुन और स्वरोदय का उपयोग भी तन्त्र में आवश्यक होता है। अतः तन्त्र का आयाम बहुत ही विस्तृत है और इन सभी का जैन तन्त्रकारों ने अपनी सीमा में रहते हुए सर्वंश समादर किया है।

(४) जैन तन्त्र का उद्गम स्तोत्र एवं प्रवाह

जैन सम्प्रदाय में भगवद् भाषित एवं गणधरों द्वारा ग्रंथित द्वादशांगों में बारहवां अंग 'दृष्टिवाद' के रूप में है। इसमें पांच विभाग हैं—१. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्वानुयोग, ४. पूर्वगत तथा ५. चूर्णिका। इनमें 'पूर्वगत' विभाग में चौदह पूर्व वर्णित हैं जिनमें दसवां पूर्व 'विद्यानुप्रवाद' है। यह 'विद्यानुप्रवाद' अत्यन्त विशाल है और इसमें मुख्यतः साधना सिद्धि औ[illegible] का विस्ता[illegible] [illegible]न्तु जैन-परम्परा [illegible] [illegible] इन पूर्वों का ज्ञान प्रायः लुप्[illegible] है। इसके अतिरिक्त द्वादशांगों के दसवें अंग 'प्रश्न-व्याकरण' में मन्त्र-तन्त्रात्मक विषयों का वर्णन था, किन्तु वह भी आज उस रूप में उपलब्ध नहीं है। आज जो प्रश्न व्याकरण मिलता है उसमें आस्रव और संवर का वर्णन है, परन्तु नन्दी सूत्र में वर्णित प्रश्न व्याकरण के विषयों में 'विद्यातिशय' का जो निर्देश है वह आज अनुपलब्ध है।

नंदवासगणी रचित 'वसुदेवहिण्डी' (५वीं शती) के चौथे लम्भक में भगवान् ऋषभदेव के चरित्र-वर्णनके अन्तर्गत एक कथा आती है कि-

ऋषभदेव के 'कच्छ' और 'महाकच्छ' नामक कुमारों के पुत्र 'नमि' और 'विनमि' महादान के समय अनुपस्थित रहने के कारण कुछ प्राप्त नहीं कर पाये, तब तपोरत ऋषभदेव से कुछ प्राप्त करने की लालसा से वे वहां तप कर रहे थे वहां पहरा देने लगे। एकबार धरणेन्द्र नागराज प्रभु के दर्शनार्थ आया और इन दोनों को वहां सेवारत देखकर पूछा कि-तुम ऐसा क्यों कर रहे हो ? उत्तर में उन्होंने कुछ प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की तो धरणेन्द्र ने प्रसन्न होकर उन्हें वैताढ्य पर्वत की दो श्रेणियां तथा आकाशगामिनी आदि विद्यायें प्रदान कीं। ये वैताढ्य पर्वत पर और विद्या के धारक होने से विद्याधर कहलाये।

इस कथा से तन्त्र विद्या का प्रवर्तन ऋषभदेव के समय से ही माना जा सकता है। ऋषभदेव आद्यतीर्थंकर है।

एक अन्य मान्यता के अनुसार तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ ने जैन तन्त्र और उसकी विभिन्न साधनाओं को जन्म दिया है। श्री पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थंकर थे तथा योग एवं अन्य सिद्धियों के महान् धनी थे। ✲✲

卐 जय भगवति गीते ! 卐

(१)

जय भगवति गीते ! दया भवि, जय भगवति गीते !
श्री हरि-वक्त्राकाश विहारिणि, जननि अमल बीते ॥
जय [illegible] प्रकाशिनि, षडरिपु नाश करा ।
जय श्रुत [illegible] विद्या, वसु प्रद, वसुन्धरा ॥

जय भव भामिनि, सुधन, [illegible]नि ।
हरि प्रिय कामिनि, काम - [illegible]धा ॥
सद् - गुण वर्द्धिनि, [illegible]भ मर्दिनि ।
जय जय धारिणि, [illegible]मोद प्रदा ॥

(३)

सर्व - शास्त्र निधि, वेद गम्य विधि ।
नव - नव रत्न, सुनय - नीते ॥
त्रिभुवन वन्दिनि, दनुज निकन्दिनि ।
मनु मन नन्दिनि मां पीते ॥

—श्री जगदीशशरण बिलगइयां 'मधुप'

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

आचार्य शंकर

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः ।
करतलभिक्षा तरुतलवासस्तदपि न मुञ्चत्याशापाशः ॥

जाड़े के दिनों में प्रातःकाल ठंड दूर करने के लिए सामने आग रखी है और पीठ पर सूर्य की किरणें गर्मी पहुँचा रही हैं। रात्रि में जाड़े के मारे घुटनों के बीच में ठुड्डी दबाकर बैठे हैं। हाथ पर भीख मांगकर खाते हैं, पास पात्र नहीं है, पेड़ के नीचे निवास करते हैं, घर नहीं है। ऐसी दशा होने पर भी आशारूपी पाश (बन्धन) को नहीं छोड़ते हैं।

× × × ×

यावद्वित्तोपार्जनशक्तस्तावन्निजपरिवारे रक्तः ।
पश्चाज्जर्जरभूते देहे वार्ता कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥

जब तक धन कमाने की शक्ति रही तब तक परिवार के लोग भी बात पूछते हैं, धन कमाने वाला मनुष्य अपने परिवार [illegible] है। वृद्धावस्था [illegible] शरीर जर्जर (शिथिल और दुर्बल) [illegible] न कमाने योग्य न र[illegible] में कोई बात भी नहीं पूछता है।

× × ×

रथ्याकर्पटविरचित[illegible]थः पुण्यापुण्यविवर्जितपन्थः ।
न त्वं नाहं नायं लोकस्तदपि किमर्थं क्रियतेशोकः ॥

गली के चीथड़ों की कथरी बनी है, पुण्य और पाप के विचार से रहित मार्ग है, न मैं हूँ, न तुम हो और न यह संसार है, तो क्यों शोक करते हो, चिन्ता करते हो।

× × × ×

कोऽहं कस्त्वं कुत आयातः का मे जननी को मे तातः ।
इति परिभावय सर्वमसारं सर्वं त्यक्त्वास्वप्नविचारम् ॥

तुम कौन हो, मैं कौन हूँ, कहां से आया, कौन मेरी माता है और कौन पिता है ? इन सब झूठे विचारों को तथा संसार को असार (व्यर्थ) और स्वप्न समझकर उसका त्याग करो।

× × × ×

का ते कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं कः कुत आयातस्तत्त्वं चिन्तय मनसि भ्रातः॥

तुम्हारी प्रिय पत्नी कौन है ? तुम्हारा पुत्र कौन है ? यह संसार बहुत ही विचित्र, विलक्षण है। किसका तू है ? कहां से आया है ? हे भाई ! मन में तू इन सब प्रश्नों का विचार कर, तत्त्व का विचार कर।

× × × ×

सुरतटिनीतरुमूलनिवासः शय्याभूतमजिनं वासः।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः कस्य सुखं न करोतिविरागः॥

गङ्गाजी के तट पर वृक्षों के नीचे निवास, भूमि ही शय्या, मृगछाला ही वस्त्र, सब प्रकार के परिग्रह (संग्रह) और भोग-विलास का त्याग ऐसा वैराग्य किसको सुख नहीं देता अर्थात् सबको सुख देता है।

× × × ×

...खतः क्रियते ... पश्चाद्धन्त ! शरीरे रोगः।
...द्यपि लोके मरणं श... मुञ्चतिपापाचरणम्॥

सुख की इच्छा से स्त्री के साथ भोग कि... है किन्तु अन्त में शरीर रोगी हो जाता है। यह खेद है। लोग यह जानते हैं कि ... संसार में आकर मरना निश्चित है फिर भी पाप करना नहीं छोड़ते हैं।

× × × ×

कुरुते गंगा सागर गमनं व्रतपरिपालनमथवा दानम्।
ज्ञानविहीने सर्वमतेन, मुक्तिर्न भवति जन्मशतेन॥

चाहे गङ्गा, सागर आदि तीर्थों की यात्रा करो, अनेक व्रतों का पालन करो, अथवा दान करो किन्तु ज्ञान न होने से सौ जन्म में भी मुक्ति नहीं हो सकती।

काल चरता जा रहा

श्री रामसजीवनसिंह

हर चराचर का प्रणेता न्याय करता जा रहा ।
निष्पक्ष कर्माशय सभी का रिक्त करता जा रहा ।।

दीखती जग में विषमता पंगु कोई हो गया ।
जन्म से गूंगा कोई जन्मान्ध पैदा हो गया ।।

दुष्कर्म कोई कर रहा कंचन कमाने के लिये ।
सद्कर्म कोई कर रहा पद उच्च पाने के लिये ।।

सह रहा है दर्द कोई मूर्खता की मार का ।
थाहता कोई पयोनिधि ज्ञान के भण्डार का ।।

धन धान्य से परिपूर्ण कोई दुःख निरन्तर भोगता ।
या गरीबी में पला निज भाग्य कोई कोसता ।।

कीट कोई बन पड़ा है नालियों [illegible] में ।
बन भ्रमर कोई लुभा[illegible] फूल में ।

पशु पक्षियों की यो[illegible]कोइ भटकता है पड़ा ।
कुछ खा रहे फल[illegible]स कुछ मांस खाते हैं सदा ।।

किन्तु मानव प[illegible]हुत ही की दया जगदीश ने ।
योग साधन की निरुपम देह कल दी ईश ने ।।

उपयोग जो करता सही ना, जागता बेहोश है ।
दास मन का कर्म खोटे बन रहा निर्दोष है ।।

क्या भला कोई बचेगा विश्व में जो सो रहा ।
चिर महा विकराल भूखा काल चरता जा रहा ।।

❈ प्रणव-जप एवं समाधि ❈

❀ श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

महर्षि पतंजलि देव जी महाराज ने ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ योगदर्शन के समाधिपाद में समाधि प्राप्ति के अनेकों उपाय बताये हैं। उनमें से एक ईश्वर प्रणिधान भी है। ईश्वर-प्रणिधान का स्वरूप समझाते हुए महर्षि लिखते हैं—

ईश्वर प्रणिधानाद्वा ।
तस्य वाचकः प्रणवः ।
तज्जपस्तदर्थ भावनम् ।

इन सूत्रों का अर्थ है—ईश्वर प्रणिधान से भी समाधि हो सकती है। उस ईश्वर का नाम प्रणव (ॐ) है। [illegible] प्रणव [illegible] चाहिए और उस[illegible] रूप [illegible] चिन्तन करना चाहिए। [illegible]

यद्यपि ईश्वर के अनेकों नाम हैं किन्तु प्रणव उसका वेदोक्त नाम होने से अधिक पवित्र माना गया है। प्रणव (ओंकार) को एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है। उपनिषदों में ॐ की महिमा मुक्त कण्ठ से गाई गई है। प्रश्नोपनिषद में कहा गया है—यह समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर का विराट स्वरूप है किन्तु ॐ उसका सूक्ष्म शरीर अथवा अव्यक्त रूप है। साधक ओंकार की उपसना द्वारा अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर सकता है। जिज्ञासु सत्यकाम के के प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि पिप्पलाद कहते हैं—

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति।

हे सत्यकाम यह ॐ अपने लक्ष्य-भूत परमेश्वर से भिन्न नहीं है। इसलिये यही परब्रह्म है और यही उन परब्रह्म से प्रकट हुआ उनका विराट शरीर अपर ब्रह्म भी है।

[illegible]जो मनुष्य उस परमेश्वर के विराट स्वरूप [illegible]गत के ऐश्वर्यमय किसी भी अङ्ग को [illegible] की इच्छा से ओंकार की उपासना करता [illegible] वह अपनी भावना के अनुसार विराट स्[illegible]प परमेश्वर के किसी एक अङ्ग (लौकिक ऐश्वर्य) को प्राप्त करता है और जो इसके अन्तर्यामी पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम को लक्ष्य बनाकर उनको पाने के लिए निष्काम भाव से इसकी उपासना करता है वह परब्रह्म पुरुषोत्तम को पा जाता है।

बालक नचिकेता को ब्रह्मतत्व का उपदेश करते हुए धर्मराज द्वारा कठोपनिषद में इसी बात की पुष्टि की गई है। यथा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

समस्त वेद जिस तत्व का प्रतिपादन करते हैं, जिसके लिए नाना प्रकार के तप आदि साधन किये जाते हैं तथा जिसे प्राप्त करने की इच्छा से साधक निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया करते हैं उस परब्रह्म पुरुषोत्तम का परम तत्व मैं तुम्हें बताता हूँ। वह है—'ॐ' यह एक अक्षर।

एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म
एतद्धयेवाक्षरं परम्।
एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो
यदिच्छति तस्य तत्
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेत-
दालम्बनं [illegible]।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा
ब्रह्मलोके महीयते ॥

यह अविनाशी ॐकार ही परमात्मा का स्वरूप है और यही परब्रह्म पुरुषोत्तम है। अतः इस तत्व को समझ कर साधक इसके द्वारा अपनी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति कर सकता है।

यह ॐकार ही परमेश्वर की प्राप्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन है इससे परे और कोई सहारा नहीं है। इस रहस्य को समझकर जो साधक श्रद्धापूर्वक उस पर निर्भर करता है वह परमात्मा को पा लेता है यह निश्चित है।

योग-चूड़ामणि उपनिषद में प्रणव की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि-प्रणव की अ, उ, म ये तीन मात्रायें ही तीनों लोक हैं तथा सूर्य, चन्द्र और अग्नि देवता परम ज्योति ॐकार में वास करते हैं—

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः
सोमसूर्याग्निदेवताः।
तस्य मात्रासु तिष्ठन्ति
तत्परं ज्योतिरोमिति ॥
इच्छा क्रिया [illegible] ज्ञानं
ब्राह्मी रौ[illegible]।
[illegible] मात्रा स्थितिर्यत्र [illegible]
तत्परं ज्योतिरोमिति।

अर्थात् भूलोक, भुवः लोक और स्वर्लोक तथा चन्द्र, सूर्य और अग्निदेवता परम ज्योति स्वरूप ॐकार में ही स्थित रहते हैं। इसके अतिरिक्त क्रिया शक्ति, इच्छा शक्ति और ज्ञान-शक्ति तथा परमेश्वर की ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी ये तीनों शक्तियां परम ज्योति-रूप ओंकार में वास करती हैं।

इसलिये—

वचसा तज्जपेन्नित्यं
वपुषा तत्समभ्यसेत् ।
मनसा तज्जपेन्नित्यं
तत्परं ज्योतिरोमिति ॥
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि
यो जपेत्प्रणवं सदा ।
न स लिप्यति पापेन
पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

उस ॐ का वाणी से निरन्तर जप करते रहना चाहिए, शरीर से सदैव उसका अभ्यास करना चाहिए अर्थात् आसन, प्राणायाम, धारणा आदि का अभ्यास करना चाहिए, मन से सदा उसके अर्थ स्वरूप परमेश्वर का चिन्तन करते रहना चाहिए। वह परम ज्योति स्वरूप ॐकार [illegible] ना चाहिए [illegible] वित्र हो या अप[illegible] अव[illegible] सदैव ॐकार का जाप [illegible] रहे। जो मनुष्य ऐसा करता है वह पाप से कभी भी लिप्त नहीं होता और संसार में रहता हुआ भी कमल पत्रवत् उससे निलिप्त रहता है।

परम ज्योति-स्वरूप ॐकार आत्मतत्वेन सभी जीवों के अन्दर साक्षिवत् स्थित रहता है। प्रणव तत्व ही जीवात्मा के अन्दर स्थित चिति-शक्ति है। कुण्डलिनी शक्ति भी वही परतत्व है। जिसका वास मूलाधार चक्र में है और जो ज्ञानीजनों में ऊर्ध्वमुखी और अज्ञानी जनों में अधोमुखी होकर स्थित रहती है। अकार, उकार और मकार ये तीनों वर्ण, तीनों वेद, तीनों लोक, सत्व, रज और तम ये तीनों गुण, तीनों स्वर ये प्रणव द्वारा प्रकाशित होते हैं। समस्त जीवों में प्रणव का पहला वर्ण अकार जाग्रत अवस्था में नेत्रों में रहता है, स्वप्नावस्था में उकार कण्ठ में रहता है और सुषुप्ति अवस्था में मकार हृदय में रहता है। प्रणव की तीन मात्रायें—अ, उ, म ब्रह्मा, विष्णु, महेश की प्रतीक हैं। अकार रजोगुण का द्योतक रक्त-वर्ण और ब्रह्मा कहा जाता है, उकार सतोगुण का द्योतक शुक्ल-वर्ण और विष्णु कहा जाता है तथा मकार तमोगुण का द्योतक कृष्ण-वर्ण और रुद्र के नाम से पुकारा जाता है।

[illegible] इस प्रकार प्रणव से ही ब्रह्मा की उत्पत्ति [illegible] से ही विष्णु की उत्पत्ति है और प्रणव [illegible] हो रुद्र उत्पन्न हुए है, प्रणव ही परतत्व है[illegible] ब्रह्मा प्रणव की पहली मात्रा अकार में लय हो जाते हैं, विष्णु दूसरी मात्रा उकार में लय होते हैं तथा तीसरी मात्रा मकार में रुद्र लय हो जाती हैं। केवल प्रणव ही शेष रहता है।

अकार परमेश्वर का स्थूल अथवा विराट

शरीर है, उकार उसका सूक्ष्म शरीर एवं हिरण्यगर्भ है और मकार उसका कारण शरीर है, जिसे अव्याकृत कहा गया है।

प्रणव और हंस में भेद

प्रणव की उपासना ही हंसविद्या है। प्रणव और हंस में कोई अन्तर नहीं है। पाशुपत् ब्रह्मोपनिषद में बालखिल्य ऋषि की जिज्ञासा पर स्वयंभू ब्रह्मा कहते हैं—

जगत की मातृका वर्णमाला रूप विद्या है। वह दो वर्ण हंस और तीन वर्ण प्रणव वाली है।

प्रणव और हंस में कोई अन्तर नहीं है। ईश्वर प्राप्ति के निमित्त प्रणव रूप हंस की साधना अवश्य करनी चाहिए। क्योंकि प्रणव रूप हंस का ध्यान किये बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता। भीतर से होने वाले हंसका ध्यान किये बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता। भीतर से होने वाले प्रणव रूपी नाद से जो हंस वि[illegible] होता है वही ज्ञान कराने वाला [illegible] की उपासना से साधक पूर्णतया [illegible]पाप होकर कैवल्य मोक्ष का भागी बन [illegible]ता है। ध्यान-बिन्दूपनिषद का वचन है—

गमागमस्थं गमनादिशून्य-
मोङ्कारमेकं रविकोटिकल्पम्।
पश्यन्ति ये सर्वजनान्तरस्थं
हंसात्मकं ते विरजाभवन्ति॥

गमनागमन में स्थित और गमनादि से शून्य ऐसे करोड़ों सूर्य की दीप्ति के सदृश सबके हृदय में रहने वाले हंसात्मक ॐकार का जो दर्शन करते है वे निष्पाप हो जाते हैं।

प्रणव एवं गुरु-तत्व में अभेद

सद्गुरु भी प्रणव स्वरूप ही हुआ करते हैं। क्योंकि षट्‌चक्रों में गुरुदेव का स्थान आज्ञाचक्र माना गया है जो कि सभी चक्रों में सर्वोपरि है। आज्ञाचक्र के नीचे के शेष पांच चक्रों तक पंचमहाभूतों की स्थिति रहती है किन्तु आज्ञाचक्र उनके प्रभाव से परे है। इस चक्र का बीजाक्षर भी प्रणव (ॐ) ही है। गुरु-तत्व एवं प्रणव में एकरूपता का प्रतिपादन करते हुए शास्त्रों में कहा गया है—

गुरुर्ब्रह्मा गुर[illegible] गुरुर्देवो महेश्वरः।
[illegible]ब्रह्म तस्मै श्री[illegible]
[illegible]ण्डमण्डलाकारं
व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन
तस्मै श्री गुरवे नमः॥

गुरु ही ब्रह्मा है, गुरु ही विष्णु है, गुरु ही साक्षात् महेश्वर है और गुरु ही परब्रह्म परमेश्वर हैं उन श्री गुरुदेव को नमस्कार है।

अखण्ड मण्डलाकार रूप से चराचर जगत

❖ बाहर वाहै चोट ❖

❋ डा० श्री विजयसिंह, गोरखपुर

सिद्ध-पथ के सूक्ष्म नियमों के विशेष विशेषज्ञ सन्त कबीर ने अध्यात्म में गुरुदेव के महत्व को अपरिहार्यता को जिन शब्दों में आंका है, उससे बढ़कर अध्यात्म की गहनता को किसी और ने चित्रित नहीं किया है—

यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
शीश दियें जो गुरु मिलें, तो भी सस्ता जान॥

साधक को गुरुदेव की कृपा तभी प्राप्त होती है जब वह हर प्रकार से अपने को गुरु के समक्ष समर्पित कर देता है। किसी ने महात्मा से पूछा—वह साधक योग-भ्रष्ट क्यों हो गया। सन्त का सीधा गणितीय उत्तर था लगता है उसने गुरु के थप्पड़ नहीं खाये थे। कबीर ने इसी मन्तव्य को निम्न दोहे में उजागर कर दिया है—

गुरु कुम्हार शिष कुम्भ है,
गढ़ - गढ़ काढ़े खोट।
अन्तर हाथ सहारा दे,
बाहर वाहै चोट॥

मुकुन्द के गुरुदेव श्री युक्तेश्वर जी उपरोक्त नियमों के अनुसार ही अपने शिष्यों की आध्यात्मिक तथा लौकिक उत्थान में सहायक

[...का शेष]

में ... रम तत्व के प्रक... श्री गुरु... नस्कार है।

इस प्रकार प्रणव तत्व ही सद्गुरु तत्व है, प्रणव ही परमेश्वर है, प्रणव जप ही हंस-विद्या एवं अजपा गायत्री है और मोक्ष प्राप्ति का एक अमोघ साधन है। जो साधक श्रद्धा-पूर्वक प्रणव का जाप करता है और परमेश्वर का चिन्तन करता है वह देव-दुर्लभ समाधि को पा जाया करता है। अन्तकाल में भी ... मनुष्य ॐ का जाप करता हुआ और ...का चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़... तो वह परम गति को पा जाया करता है। गीता में श्री भगवान ने अपने श्रीमुख से यह आश्वासन दिया है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म
व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं,
स याति परमां गतिम्॥

हुआ करते थे। वे दैनिक तात्कालिक बातें हो या साधारण आचार की सूक्ष्म बातें हो श्री युक्तेश्वर जी शिष्यों की खूब टीका किया करते थे। यथा प्रसंग वे कहा करते शिष्टाचार बिना निष्कपटता के प्राण विहीन सुन्दर नारी के समान है। स्पष्ट वादिता बिना शिष्टाचार के डाक्टर की छूरी के समान है, जो उपयोगी तो है, पर अप्रीतिकर है। शिष्टाचार युक्त सरलता उपयोगी भी है, और प्रशंसनीय भी है। गुरुदेव श्री युक्तेश्वर जी मुकुन्द के आध्यात्मिक उन्नति से स्पष्ट ही सन्तुष्ट थे। क्योंकि उसके वीर शायद ही कभी टिप्पणी करते जबकि अन्य विषयों में न जाने उसको कितनी फटकारें सुननी पड़ती। अन्य मनस्कता, बीच-बीच में विषण्णता, शिष्टाचार के कतिपय नियमों का उल्लंघन और कभी अनियमित कार्य शैली उसके मुख्य अपराध थे। एक दिन श्री युक्तेश्वर जी ने मुकुन्द से क[illegible] तुम इस पर ध्यान दो कि तुम्हारे [illegible] वती के कार्य-कलाप कितने सुव्यव[illegible]र सन्तुलित है। मुकुन्द ने श्री युक्ते[illegible]जी के कठोर शासन के फलस्वरूप उ[illegible] दायित्व-हीनता की भ्रान्तियों का शीघ्र परित्याग कर दिया। व्युत्पत्ति की दृष्टि से शिष्य और शासन दोनों शब्दों का मूल एक ही है और व्यवहार में भी परस्पर सम्बन्धित है। श्री युक्तेश्वर जी कहा करते थे कि जो लोग इस जगत के लिए उपयोगी हैं वे अन्य-जगत की भी शोभा है। जब तक तुम इस जगत में मुक्त हवा श्वास लेते हो, तब तक कृतज्ञ भाव से सेवा करना अनिवार्य कर्तव्य है। जो समाधि में परिपूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका है, वह सांसारिक कर्तव्य के पालन के उत्तरदायित्व से मुक्त है। एक बार उन्होंने रूक्षता पूर्वक मुकुन्द से कहा—यह जान लो कि जब तुम सम्पूर्णता प्राप्त कर लोगे तब मैं अवश्य ही तुम्हें यह बता दूंगा।

श्री युक्तेश्वर जी को प्रेम के दिखावे से भी वश में कर लेना सम्भव न था। जो लोग स्वेच्छा से उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लेते थे, उनके प्रति वे नरमी नहीं दिखाते थे। मुकुन्द चाहे शिष्यों के साथ हो अथवा अपर-[illegible] उसकी [illegible] [illegible]टकार सुना दि[illegible] [illegible]न्य सी भूल हो या कोई [illegible] काम कर डालने पर उनकी फटकार से बच पाना सम्भव नहीं था। अहं को चूर्ण कर देने वाला इस प्रकार का बर्ताव सबके लिये सहज न था। परन्तु मुकुन्द ने भी अपनी प्रत्येक मानसिक ऐठनों को अपने गुरुदेव के कठोर शासन द्वारा सीधा करा लेने का अटल प्रण कर रखा था। दैत्याकार परिवर्तन लाने की श्री युक्तेश्वरजी की चेष्टा के सम्मुख मुकुन्द को उनको अनुशासन

रूपी हथौड़े की मार के नीचे कई बार कंपित होना पड़ा। एक बार श्री युक्तेश्वर जी ने कहा—मुकुन्द यदि तुम्हें हमारी बात पसन्द नहीं है तो तुम किसी भी क्षण यहाँ से चल देने के लिये स्वतन्त्र हो। मैं तुम्हारी उन्नति के अतिरिक्त और किसी वस्तु की अपेक्षा तुमसे नहीं रखता। यदि तुम्हें लाभ का अनुभव होता हो तो ठहरो। कठोर झटके के बिना अहंकार की जड़ को उखाड़ फेंकना कठिन है। अहंकार विनष्ट होते ही ईश्वरानुभूति का मार्ग निष्कटंक बन जाता है। श्री युक्तेश्वर जी का अन्तर्ज्ञान पार-दर्शक था। आलोचना की ओर कर्णपात न करते हुए वे प्रायः ही लोगों के अव्यक्त विचारों का समुचित उत्तर दे देते थे। वे कहा करते थे—[illegible] के शब्दाडम्बर [illegible]के मनो[illegible]त मन से अनु[illegible] प्रय[illegible]व्य ज्ञान-दृष्टि का रह[illegible] घाटन सांसारिक कानों को प्रायः कटु लगता है। आगे चलकर इसी शासनसे जब मुकुन्दने समाधि लाभ करके श्री गुरुदेव द्वारा परमहंस की उपाधि प्राप्त की तब मुकुन्द के भविष्यत् कर्मों को देखते हुये श्री युक्तेश्वर जी ने कहा— मेरे पास शिक्षा ग्रहण करने जो आते हैं, उनके साथ मैं कड़ाई का बर्ताव करता हूँ। यह मेरी प्रकृति है। स्वीकार करो या अस्वीकार। मैं मध्य मार्ग में विश्वास नहीं करता। किन्तु तुम अपने शिष्यों के साथ खूब सदय रहना। वह तुम्हारी प्रकृति है। मैं केवल शासन की अग्नि में तपा कर शुद्ध करने की चेष्टा करता हूँ। यह साधारण लोगों की सहन-शक्ति के परे है। प्रेम का सौम्य मार्ग भी परिवर्तन ला सकता है। कठोर और कोमल, दोनों ही पद्धतियाँ समान रूप से प्रभावकारी हैं, यदि इनका विवेकपूर्वक उपयोग किया जाय। भविष्य में तुमको विदेश जाना पड़ेगा, जहाँ के लोग अहं पर निर्दय प्रहार पसन्द नहीं करते। पर्याप्त धैर्य और [illegible]नशीलता के साथ अपने को पश्चिम के [illegible]तियों के अनुकूल बनाये बिना कोई [illegible]हाँ भारत के अमर सन्देश का सफलता[illegible] प्रचार नहीं कर सकता।

✿✿

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां [illegible]र्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

जो अनन्य प्रेमी भक्तजन इस पूर्वोक्त प्रकार से निरन्तर आपके भजन ध्यान में लगे लगे हुए आप सगुण रूप परमेश्वर को अति श्रेष्ठ भाव से उपासते हैं और जो अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार को ही (उपासते हैं) उन दोनों प्रकार के भक्तों में अति उत्तम योगवेत्ता कौन है। योगेश्वर कृष्ण का उत्तर था—ज्ञानी।

साधकों के प्रश्न तथा उनके उत्तर

(श्री सद्गुरुदेवजी द्वारा)

प्रश्न—परम पूज्य गुरुदेव ! प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। विशेष रूप से मनुष्य बुद्धिवादी होने के कारण अनादि काल से सुख की खोज में रहा है। किन्तु गहराई से देखने पर पता चलता है कि संसार में सुखी कोई नहीं है। मनुष्य बाहर से देखने पर भले ही सुखी नजर आये किन्तु वह किसी न किसी रूप में दुःखी ही होता है। कृपा करके यह बतलाइये कि—मनुष्य जीवन में दुःख कौन-कौन से है और उनका क्या कारण है ?

उत्तर—हे पुत्र ! तुम ठीक कहते हो कि—संसार में जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी अ[illegible] को दुःखी समझता है और दुःख-[illegible] लिये सदैव प्रयत्नशील रहा करता है [illegible] की दुराशा लिये वह तरह-तरह [illegible] भोग-साधनों को जुटाता है किन्तु उसके [illegible] दुःख के अतिरिक्त कुछ नहीं आता। वह जिन-जिन विषयों को सुख के लिए स्वीकारता है परिणाम में वे सब दुःखरूप ही होते हैं।

महर्षि पतञ्जलि देव जी महाराज दुःख का स्वरूप समझाते हुए अपने योग-दर्शन में लिखा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति-
विरोधाच्चसर्वमेव दुःखं विवेकिनः ।

सूत्र का अर्थ है—परिणाम दुःख, तापदुःख, संस्कार-दुःख और गुणवृत्ति विरोध के कारण विवेकी पुरुष के लिए यह सारा संसार दुःखरूप ही है।

यों तो संसार में दुःख ही दुःख है किन्तु ये चार प्रकार के दुःख ही सभी दुःखों के मूल हैं। इनमें [illegible] परिणामी दुःख [illegible] [illegible] इन्द्रियों की [illegible] [illegible]-साधनों को अपने [illegible] स्वीकार करते हैं। वे भोगकाल में [illegible] सुखदाई प्रतीत होते हैं किन्तु परिणाम में महान दुःख के दाता होते हैं। इस प्रकार के दुःखों को परिणाम दुःख कहा गया है।

गीता के पांचवे अध्याय के २२ वें श्लोक में तथा १८ वें अध्याय के ३७ वे श्लोक में परिणाम दुःखता का स्वरूप वर्णित किया गया है—

ये हि संस्पर्शजा: भोगा:
दु:खयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्त: कौन्तेय
न तेषु रमते बुध: ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्य-
त्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव
तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

इन्द्रिय और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले जितने भी भोग हैं वे सब नाशवान हैं और दु:ख के देने वाले हैं। इसलिए विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।

जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है वह यद्यपि भोगकाल में अमृत के समान मधुर लगता है परन्तु परिणाम में वि[illegible] भयानक [illegible]

[illegible] के अनुसार समस्[illegible] सुखों [illegible] परिणाम दु:खता छिपी [illegible] करती है। जिसे मनुष्य मोहवश अनुभव नहीं करता।

ताप दु:ख—

चित्त में इन्द्रियों के राग द्वेष पैदा होते रहा करते हैं। किसी प्रकार की कामना की पूर्ति न होने पर मन में एक गहरी जलन हो जाती है। इसी का नाम ताप दु:खता है। सभी प्रकार के सुख विनाशशील हैं। भोगकाल में उनके विनाश की संभावना से मन में एक प्रकार की व्याकुलता बनी रहती है। इसके साथ ही सुख का हेतु जो भोग-सामग्री किसी को प्राप्त है वही दूसरों को उससे बढ़कर प्राप्त है। यह देखकर वह व्यक्ति ईर्ष्या से जलता रहता है। इसी को तापदु:ख कहते हैं।

संस्कार दु:ख—

जिस समय सुख संस्कारों का भोगकाल उपस्थित होता है उस समय सुख संस्कार ही अधिकांशतया सम्मुख आया करते हैं। प्राणी जिन संस्कारों में सुख का अनुभव करता है उस समय उसकी वह सुख संस्कारानुभूति है। किन्तु यह अनुभूति सदा कायम नहीं रहती। सुख संस्कारों का भोगकाल समाप्त होने पर उन सुखों की स्मृति ही दु:खों का कारण बन जाया करती है। इसके साथ ही सुखोपभोग के संस्कार भोगासक्ति को बढ़ाते रहते हैं। [illegible] वे जन्मान्तर में भी दु:ख के ही हेतु [illegible]।

गु[illegible] विरोध दु:ख—

गु[illegible] कार्य का नाम गुणवृत्ति है। सारा संसार स[illegible], रज और तम इन तीन गुणों पर आधारित है। गुणों के कार्य में परस्पर अत्यन्त विरोध है। सत्व गुण का कार्य प्रकाश ज्ञान और सुख है तो तमोगुण का कार्य अज्ञान अन्धकार और दु:ख है। तीनों गुण साथ-साथ रहते हैं। एक प्रधान रहता है तो दूसरे दो

गौण रहते हुए भी उसके विरोधी बने रहते हैं। इस प्रकार सुख-भोगकाल में भी दुःख और शोक बने रहते हैं।

गुणवृत्ति विरोध एक ऐसा दुःख है जो कि मनुष्य के अन्तःकरण में हमेशा द्वन्द मचाये रखता है और उसे किंकर्त्तव्य विमूढ़ बनाये रखता है। इसी प्रकार पिता यदि सतोगुणी है तो पुत्र रजोगुणी है। उनका परस्पर स्वभाव नहीं मिलता और आपस में विरोध बना रहता है। पिता अपने को ठीक समझता है और पुत्र को अपने समान बनाना चाहता है किन्तु पुत्र अपने को ही ठीक समझता है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे में दोषारोपण करते हुए दुःखी रहते हैं। यह गुणवृत्ति विरोध पिता पुत्र में, भाई-बहिन में, पति-पत्नी में और यहाँ तक कि गुरु शिष्य में भी समान रूप से दिखाई देता है।

इन दुःखों के अतिरिक्त कुछ इस प्रका[illegible] दुःख भी हैं जो कि मनुष्य को स[illegible] प्राप्त होते रहते हैं। ये दुःख आ[illegible]मक, आधि भौतिक और आधि दै[illegible] नामक त्रिविध दुःख हैं।

आध्यात्मिक दुःख—

शारीरिक और मानसिक कष्ट आध्यात्मिक दुःख कहलाते हैं। शरीर का रोग-ग्रस्त हो जाना ही शारीरिक कष्ट अथवा व्याधि तथा काम क्रोधादि विकारों से मन का अशांत बना रहना मानसिक कष्ट अथवा आधि कहलाता है। इन दुःखों से ग्रस्त होकर मनुष्य अपने जीवन काल में भी मृतक के समान बना रहता है।

आधि-भौतिक दुःख—

शेर, व्याघ्र, सर्प, बिच्छू आदि हिंसक जन्तुओं से पैदा होने वाला दुःख आधिभौतिक दुःख कहलाता है। इस दुःख से भी प्राणी सदा भयभीत बना रहता है।

आधि-दैविक दुःख—

ग्रह नक्षत्रादि से प्राप्त होने वाला दुःख आधि दैविक दुःख कहलाता है। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि दुःख भी इसी श्रेणी में आते हैं किन्तु मनुष्य इन दुःखों को सहने का इतना आदी बन गया है [illegible]ह इन दुःखों को [illegible]

[illegible]

[illegible]त्यु का दुःख—

यह दुःख पूर्वोक्त सभी दुःखों से सबसे अधिक कष्टप्रद एवं भयानक है। जन्म से पूर्व जीव ९ मास तक माता के गर्भ में घोर नारकीय यातनायें भोगता है। उस समय उसे अपने पूर्वजन्मों का पूरा ज्ञान होता है। अतः वह अत्यन्त भयभीत होकर कहता है—

मैंने अब तक तरह-तरह के आहार खाये, अनेक प्रकार के स्तनों का दूध पिया, बार-

बार जन्म लिया और मृत्यु को प्राप्त होता रहा हूं। अपने कुटुम्बी जनों के लिए मैंने जो कर्म किये उनके कारण मैं कष्ट भोग रहा हूं। ओह! मैं किस दुःख-सागर में पड़ गया हूं। इससे निकलने का कोई उपाय नजर नहीं आता। इस प्रकार घोर कष्ट को अनुभव करता हुआ वह तरह-तरह की प्रतिज्ञायें करता है कि—

यदि मैं इस बार किसी प्रकार योनि-द्वार से बाहर निकल जाऊँ तो भगवान महेश्वर की शरण लूंगा ताकि वे मेरे पापों का नाश करके मुझे मुक्ति दे दें, मैं भगवान नारायण की शरण लूंगा, मैं योग का अभ्यास करूंगा-आदि-आदि। ऐसी प्रतिज्ञायें करता हुआ वह बड़ी कठिनता से जन्म ले पाता है और उसी क्षण भगवान विष्णु की त्रिगुणात्मिका माया ... ही वह ... दुःख भी ऐसा ही ... मनु... नाम सुनते ही भय... उठता है। शरीर से प्राण निकलते समय जीवात्मा को एक हजार बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने के समान असह्य वेदना होती है। उस समय वह महान्धकार में भटकता हुआ सोचा करता है—सूर्य का वह प्रकाश, वायु का सुखद स्पर्श, मेरा घर तथा मेरे कुटुम्बीजन ये सब कहां चले गये? पता नहीं मैं किस दुःख पंक में पड़ गया हूं। मुझे न कुछ दीखता है, न कुछ सुनाई देता है, न किसी का स्पर्श होता है और न मेरी भूख-प्यास ही शान्त होती है। अब मैं क्या करूं और किसकी शरण लूं? इस प्रकार वह महान दुःख को भोगता है।

इस प्रकार विवेकी पुरुष के लिए इस संसार में दुःख के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि मनुष्य अपने जीवन-काल में ही आत्म-कल्याण के लिए पुरुषार्थ करे तथा उपरोक्त दुःखों से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाये। अखिल लोक पावन भगवान श्रीकृष्ण का आदेश है—

उद्धरेदात्मनात्मानं
नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो
बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि वह अपने ...र्थ द्वारा अपना संसार सागर से उद्धार ...र अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँ... क्योंकि यह जीवात्मा आप ही तो अपना ...त्र है और आप ही अपना शत्रु है।

प्रश्न—पूज्य गुरुदेव! आपने दुःखों की व्याख्या करके मुझ मूढ़ पर असीम कृपा की है। आपके सदुपदेश से मेरे हृदय में वैराग्य के भाव जाग्रत हो रहे हैं। कृपा करके यह भी बतला दीजिये कि वह कौन सा ऐसा साधन

है जिसके अवलम्बन से मनुष्य समस्त लौकिक दुःखों से सदा-सदा के लिए छूट जावे और कल्याण का भागी बन जावे।

उत्तर—हे पुत्र! सुनो—दुःखों से छूटने का एकमात्र उपाय योग ही है। क्योंकि सभी प्रकार के दुःख पूर्व संचित पापों के परिणाम-स्वरूप आया करते हैं और योगाभ्यास मनुष्य को निष्पाप बनाता है। ध्यानबिन्दूपनिषद का वचन है—

यदि शैलसमं पापं
विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यान योगेन
नान्यो भेदा कदाचन॥

अर्थात् कई योजन दूर तक फैला हुआ पापों का पहाड़ ही क्यों न हो वह भी ध्यान-योग के द्वारा नष्ट हो जाता है। पापों के नाश का और कोई उपाय नहीं है।

योग साधना द्वारा जब मनुष्य आ[illegible] साक्षात्कार कर लेता है तो उसके स[illegible] के शुभाशुभ कर्म जो सुख-दुःख के [illegible] हैं, समाप्त हो जाते हैं। जिससे वह दुःखं[illegible] छूट-कर शाश्वत सुख को प्राप्त कर [illegible]ता है। जगदात्मा श्रीकृष्ण ने समाधि-जन्य उस असीम सुख का वर्णन करते हुए गीता में कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं
मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन
गुरुणाऽपि विचाल्यते॥
तं विद्याद् दुःखसंयोग-
वियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो
योगोऽनिर्विण्णचेतसा।

परम शान्ति के निधान परमात्मा की प्राप्ति रूप जिस अलभ लाभ से बढ़कर मनुष्य उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता। वह पूर्णकाम हो जाता है। उसकी दृष्टि में इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण भोग, त्रिलोकी का राज्य तथा मान प्रतिष्ठा सब नगण्य हो जाते हैं। जिस परमानन्द में स्थित योगी महान से महान विपत्ति आने पर भी विचलित नहीं होता।

जो [illegible] संयोग से रहित [illegible] [illegible]न भाग है उस[illegible] [illegible] वह योग-साधन न उ[illegible] [illegible] धैर्यपूर्वक, उत्साहपूर्वक, श्रद्धा[illegible] विश्वास पूर्वक करना चाहिए।

योग को अपनाये बिना मनुष्य दुःख-द्वन्द्वों से छूट ही नहीं सकता। क्योंकि द्रष्टा (जीवात्मा) और दृश्य (बुद्धि) इन दोनों का अनादिकाल से चला आया जो अज्ञान जनित सम्बन्ध है वही दुःखों का मूल कारण है। नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त अविकारी आत्मा का

बौद्धेय धर्मों को अपनाकर अपने को सुखी-दुःखी, बद्ध एवं मरणधर्मा समझना ही जड़-चेतन की गांठ है। जब तक यह गांठ खुल नहीं जाती तब तक दुःखों का अभाव नहीं हो सकता। दुःखों की निवृत्ति के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य योगाभ्यास करे। भगवान पतञ्जलि देव जी ने "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" कहकर योग की परिभाषा लिखी है। जिसका अर्थ है—चित्तवृत्तियों का समूलोन्मूलन हो जाना।

चित्तवृत्तियां अनन्त हैं और प्रतिक्षण उदित होती रहती हैं। निरन्तर अभ्यास के द्वारा उन वृत्तियों का पूरी तरह निरोध हो जाने पर जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इसी अवस्था को समाधि कहा गया है। इस स्थिति को पाकर दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है। मुण्डकोपनिषद का वचन है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः
छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

उस परावर शुद्ध स्थिति को पा लेने के बाद जीव के हृदय की अविद्यारूपी गांठ स्वतः ही खुल जाती है, सभी प्रकार के संशय कट जाते हैं, समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। जिससे यह जीव समस्त दुःखों से सर्वथा मुक्त होकर परमानन्द स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है। ☼ ☼

—❀ ... के कुछ विचार ❀—

... में आहार और ... जो मैं मनुष्यों से कहता हूँ वह यह है कि ... चित आहार और निद्रा ... सकता। (इस विषय पर गीता को देखो)। उपवास और अनिद्रा स्नायुओं को ... जित और मस्तिष्क को दुर्बल कर देते हैं तथा भ्रम और स्वैर कल्पना पैदा कर देते ... ता कहती है कि योग उसके लिए नहीं है जो बहुत अधिक खाता या बहुत अधिक ... है, उसके लिये भी नहीं है जो न खाता है और न सोता है, परन्तु यदि कोई उचित रूप ... खाता और सोता है, युक्ताहार युक्तनिद्र है, तो वह सर्वोत्तम रूपसे योगकी साधना कर सकता है। दूसरी हर वस्तुके साथ यही बात है। कितनी बार मैंने कहा है कि मैं एकांत की अधिकता पर सन्देह करता हूँ।

भोजन की लालसा पर विजय के दो तरीके—भोजन की लालसा से छुटकारा पाने के उपाय के रूप में भोजन करना ही छोड़ देना वैरागियों का मार्ग है। हमारा मार्ग है समत्व और आसक्तिहीनता।

सिद्ध योगिनीं ब्रज गोपियाँ

❀ श्रीमती सरिता भारद्वाज सांख्ययोगाचार्य एम. ए. बी.-एड.

सिद्धानुकम्पा से जिस योग की प्राप्ति होती है उसे सिद्धयोग कहते हैं। महानतम् पुण्यों का संचय होने पर जीव सिद्ध-योग का विद्यार्थी बनता है। सर्व शक्तिमान सद्गुरु तथा करुणार्णव प्रभु की अहैतुकी कृपा से स्पर्श हार्द, चिन्तन, संकल्प, शब्द, मन्त्र आदि दीक्षा विधि से जब गुरुदेव शक्तिपात करते हैं तो उनकी कृपा के फलस्वरूप जीव की अन्तरानुभूति जग जाती है जिससे वह प्रेम और आनन्द में सदा डूबा रहता है। शब्द और रूप माधुरी रूपी मन्त्र जप की भावना करते रहने से 'स्वाध्यायाद् इष्ट देवता सम्प्रयोगः' के योग दर्शन में प्रतिपादित सिद्धान्ता-नुसार शब्द उद्भूत भाव के द्वारा इष्ट [illegible] चित्तवृत्ति हो जाती है। इष्ट के [illegible] उसे [illegible] आनन्द रूपका अनवरत प्रवाह [illegible] मन बुद्धि, चित्त, अहंकार को आप्ल[illegible] र देता है। साधना-जगतके इस रहस्य का [illegible] ब्रज-गोपियों तथा नन्द नन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के प्रेम-योग से प्रकट होता है।

योग-विद्या के गूढ़ रहस्य गूढ़ शब्दावली में व्यक्त किये गये हैं। योगी कबीर ने उलट बाँसियों के माध्यम से सूक्ष्म अनुभूतियों को मूर्त्तरूप में वर्णित किया है। 'गोपी' शब्द भी जातिवाचक शब्दमात्र नहीं है। गोपी शब्द का अर्थ है ब्रह्माकार चित्तवृत्तियां, प्रत्याहार की अवस्था में पहुँची हुई चित्तवृत्तियां, सुखा-नुभूति में निमग्न अन्तर्मुखी वृत्तियाँ, तथा महाभावापन्न साधक की चित्त भूमियां। 'गो' शब्द का संस्कृत भाषा में अर्थ होता है इन्द्रियां, भूमि, गति। जो समस्त इन्द्रियों से अपने इष्ट की रूप सुधा का पान करें वे अन्तरामुखी वृत्तियां गोपियां हैं। गोभिः पिबति [illegible] 'गोषु पिबति' [illegible] [illegible] कर कृ[illegible] [illegible] र से झरने वाले-[illegible] का पान करने वाली बुद्धि है वह गोपी है। इस दृष्टि से सभी साधक गोपी हैं तथापि 'ब्रज-गोपी' सिद्धयोग के साधक का पर्याय है। ब्रज शब्द भी अनूठा है। साधक की चित्त-वृत्ति जब तक सर्व तो भावेन इष्टार्पित नहीं होती, जब तक समस्त ज्ञान, कर्म इष्टार्पित नहीं होते तब तक 'ब्रज गोपी' नहीं बन पाता। एक बार साधक ब्रज गोपी बन जाय तो योग

युक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है। ब्रज शब्द 'ब्रह्मरज' का संक्षिप्त रूप है। जैसे 'शतक्रतु' शब्द में से प्रथम और तृतीय अक्षर लेकर 'शक्र' शब्द 'इन्द्र' का पर्याय बन गया, उसी प्रकार प्रथम और चतुर्थ शब्द के संयोग से ब्रज शब्द बना है। ब्रज का अर्थ गति भी होता है। अन्तर्जगत का नाम ब्रज है। ब्रह्म का उल्लास क्षेत्र ब्रज है। निर्गुण निराकार ब्रह्म जहाँ सगुण साकार होकर गलियों में, कछारों में आनन्द लुटाता है क्रीड़ा करता है, 'धुटुवन चलत रेणु तन मंडित' होकर मुख दधि लेप किये घूमता फिरता है, वह चित्त की भूमि ब्रज भूमि है। इसी ब्रह्म को प्राणों से अधिक प्यार करने वाली गोपियाँ (चित्तवृत्तियाँ) ब्रज गोपियाँ हैं। जिस प्रकार ब्रह्म की निःश्वास ऋचायें वेद हैं उसी प्रकार नन्द-नन्दन आनन्द [illegible]चन्द्र की [illegible]ती प्रति- [illegible] शुद्ध सन्ता [illegible] [illegible] है।

गोपियाँ भक्तियोग की पराकाष्ठा हैं। योग साधना में गोपी साधना से सरल और महत्वपूर्ण दूसरी कोई साधना नहीं हो सकती। गोपियों की साधना महाभाव की उच्चतम अवस्था है जो इन्द्रियों के बाहरी व्यापार रुक जाने के बाद भावों के रसरूप बनने पर अपने इष्ट में तदाकाराकारित चित्तवृत्ति होने पर होती है। वैसे भाव असंख्यों प्रकार के हैं। उनमें सख्य, वात्सल्य, दास्य, शान्त तथा माधुर्य भाव प्रमुख हैं। इनमें भी माधुर्य भाव महाभाव की अवस्था तक पहुँचाने में सहायक होता है। भाव शब्द भू सत्तायाम् धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ 'होना' और 'करना' है। भाव मन की वह स्थिति है जो निरन्तर परमार्जित होकर प्रेममय बन जाती है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भाव का लक्षण बताया है—

शुद्धसत्त्व विशेषात्मा
प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृत्
असौ भाव उच्यते ॥

प्रेम के द्वारा चित्त को मसृण कर शुद्ध सत्त्वमय बनाने की क्रिया भाव कहलाती है। यही भाव जब आनन्द और दीप्ति का जनक हो जाता है तो प्रेमभक्ति, महाभाव या आनंद [illegible] अवस्था बन जाता है। गोपियाँ पतिरूप [illegible]नकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की उपासना और [illegible] थीं सर्वस्व समर्पण करने तथा शरण[illegible]र अभय साधना का पति भाव से श्रे[illegible]र कोई भाव नहीं हो सकता। जब तक जी[illegible] अष्टपाश में बंधा रहता है तब तक उसके हृदय में प्रेम और आनन्द का उदय नहीं होता। जब तक स्थूल इन्द्रिय भोगों की कामना होती है तब तक सुखोपभोग की कामना, वासना मात्र होती है। प्रेम तो

कामना-शून्य विशुद्ध तत्व है। भक्ति-शास्त्र के अनुसार 'परानुरक्तिरीश्वरे' के सिद्धान्तानुसार अपने प्राण प्यारे जीवनाधार के चरणों में परमानुराग और देह गेह, बन्धु-बान्धवों से परम वैराग्य हो जाता है तभी भक्ति का उदय होता है। गोपियों ने अष्टपाशों का बन्धन काट दिया था। कुलार्णवतन्त्र में अष्टपाशों के अन्तर्गत निम्नलिखित पाश गिनाये गये हैं—

घृणा लज्जा भयं शङ्का
जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं तथा जातिः
अष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥
पाशबद्धो भवेज्जीवः
पाशमुक्तः सदाशिवः।

घृणा, लज्जा, भय, शंका, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति—ये अभिमानमूलक होने के कारण आठ प्रकार के पाश हैं। इन पा... बँधा हुआ जीव कहलाता है, ती... हो जाता है, वह सदाशिव औ... है। गोपियाँ कृष्ण की वंशी सुनते ही ... घर और प्रिय सभी को छोड़कर भगवा... श्यामसुन्दर को पाने दौड़ पड़ती हैं। वे अपने घरों का सब काम-काज करती हैं किन्तु उनसे बँधी नहीं रहतीं। अपने पतियों की सेवा करती हैं किन्तु अपने परम पति का एक क्षण को भी विस्मरण नहीं करतीं। उन्हें लोक-लज्जा, कुल जाति का अभिमान लोक से बांध कर नहीं रख पाता। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

सब लोक धर्मों को छोड़कर परात्पर परब्रह्म आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की शरणागत होने पर गीता की निर्भराभक्ति की मूर्तिमती रूपा गोपियाँ अपने दृढ़ निश्चय को देव कवि के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

कोऊ कहो कुलटा कुलीन अकुलीन कहो,
कोऊ कहो रंकिनी कुलंकिनी कुनारी हौं।
कैसो नर लोक पर लोक लोक लोकन में,
लीन्हीं मैं अलीकलोक लोकनितें न्यारी हौं॥
तन जाहु, मन जाहु, देव गुरुजन जाहु,
जीव जि... टरत न टारिहौं।
...री की
...ोरी बाहि मुर...

श्रीमद्भागवत के दशम् स्कन्ध ...पियों के हृदय में भोगों के प्रति सच्चे वैराग्य और अन्तर्मुखी वृत्ति द्वारा भागवत रस का आस्वादन करने का सुन्दर वर्णन हुआ है। गोपियों के जीवन का समग्र व्यापार—खाना-पीना, सोना, प्रेम, दुःख, द्वेष, उद्वेग आदि भगवत अर्पित है। भूलकर भी एक क्षण को उनका मन श्रीकृष्ण से अलग होकर दूसरी ओर नहीं

जाता। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' अर्थात् मनित-आह्लादक प्रणवादि मन्त्र का जप और उसके अर्थ का चिन्तन करने से योगदर्शन के अनुसार इष्ट कृपा का लाभ प्राप्त होता है। गोपियां इसी प्रकार की साधना में दीक्षित थीं। उनके तन, मन, प्राण और इन्द्रियों में ब्रजराज श्रीकृष्ण बस गये थे। उनकी आंखों में वही छवि और चित्त में उन्हीं का चिन्तन और परस्पर उनके दिव्य प्रेम और लीला की कथा उन्हीं के लिये दधि मथना सब कुछ श्रीकृष्ण-मय बन गया था। व्यासदेव जी महाराज कहते हैं –

तन्मनस्का: तदालापा:
तद्विचेष्टा: तदात्मिका:।
तद्गुणानेव गायन्त्यो
...त्मानि सस्मरु:॥

बच्चों को नहलाते, खिलाते श्रीकृष्ण...
तन्मय रहकर आनन्द में पुलकित रहत...
भगवान वेदव्यास उनके आनन्दाश्रु स...
और गद्गद् कण्ठ को देखकर ब्रज गो...
जीवन को धन्य मानते हैं— 'धन्या ब्र...
उरुक्रमचित्तयाना:।'

गोपियों का महाभाव आनन्दानुगत ... की अवस्था है। वे प्रतिक्षण अपने आर... सुख की कामना करती हैं। धन, मन... तन अपने प्राण प्यारे को अर्पण क... उन्हें इतना सुख मिलता है। ... उन्हीं का है तो वे अपने प्रियत... अर्पित करें, इसलिये वे कहती... तुम यन्त्री हो और हम य... इच्छा हो, वही करो।' योग... भाव की अवस्था में पहुंच... ...न्मय का उदय होता... ...ो सर्वत्र अपने... ...े महा...

र के अभिमान ने उनकी साधना के
विरह के दुःख में बदल दिया। वे
भाव से श्रीकृष्ण को पुकारने लगीं।
पी तप ने जब उनके सूक्ष्म अभिमान
कर दिया और उनके वियोग से
योग-लीला में कृष्ण बन गयीं, कृष्ण
उन्हीं की लीलायें करने लगीं—कोई
शोदा बनी, कोई श्रीकृष्ण। अपने
र के चरण चिन्हों के पीछे वन वन में
रहीं। गोपियों की विरह व्यथा का
कृष्णचन्द्र से सहा न गया। फूट-फूट
री थी तभी उनके बीचमें श्रीकृष्ण
उन्हें सहसा अपने बीच देखकर
आनन्द के आंसुओं से भर
से भगवान को हृदय में बैठा-
कित होने लगीं। उनका
उनके विरह के कारण
ना था वह सुख
ष्ण के दर्श

से पूछने लगीं—हे नटनागर! कुछ लोग तो प्रेम करने वालों से ही प्रेम करते हैं और कुछ प्रेम न करने वालों से भी प्रेम करते हैं। परन्तु कोई-कोई दोनों से ही प्रेम नहीं करते। इन तीन प्रकार के प्राणियों में आपको कौन सा अच्छा लगता है। लीलाधर गोपियों का अन्त-र्भाव समझ गये और गोपियों को उसी के अनु-सार उन्होंने उत्तर दिया—मेरी प्यारी सखियो! जो प्रेम करने पर प्रेम करते हैं, उनका प्रेम एक व्यापार है, लेन-देन का सौदा है। उनमें न तो सौहार्द्र है और न धर्म। उनका प्रेम स्वार्थ वश है, अन्य कोई उसका प्रयोजन नहीं है। दूसरे जो लोग प्रेम न करने वालों से भी प्रेम करते हैं—जैसे माता-पिता उसका कारण उनकी करुणा शीलता है और उनके हृदय में सत्य तथा धर्म भी है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो प्रेम ने वालों से भी

जैसे निर्धन पुरुष को कभी बहुत सा धन मिल जाय और फिर वह धन खो जाय तो उसका हृदय खोये हुए धन का स्मरण करते-करते धन की कामना से तदाकार हो जाता है। उसी प्रकार मैं मिलकर छिप जाता हूँ। इस तरह तुम्हारे प्रेम की … गई और तुम्हारे त्याग का … गया। हे गोपियो … तुमने घर गृहस्थी के मोह बं… दिया है और योगयुक्त स्थिति में … तुम्हारे प्रेम का मैं प्रतिदान नहीं दे … क्योंकि—'मैं भक्तन हाथ बिकानो।' मैं … जन्मान्तर के लिए तुम्हारे प्रेम का ऋणी … प्रेम के आधिक्य को देखकर चित्त निर्मो… क्रिया से योगेश्वर श्रीकृष्ण गोपियों के मध्य… सहस्रों रूप में एक साथ प्रकट होकर महारास…

…से नट… … खेलता है। नट… …कृष्ण अपनी प्रकृति … गोपियों के साथ नृत्य करते, उन्हें … करने लगे। वे … चिन्मय … कर देते हैं … तथा क्रीडा … का जागरण …

से योग पाकर कर्म-बन्धन काट देते हैं। ज्ञानी पुरुष जिनके तत्व को समझकर कर्म-बन्धन रहित हो जाते हैं, वे ही भगवान भक्तों की भावना के वश में होकर उनके अन्तःकरण में विलास करते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गोपियों को घर लौट जाने का आदेश दिया। यद्यपि गोपियों की इच्छा घर लौटने की नहीं … तथापि उनकी आज्ञा मानकर वे घर लौट … वे अपने आराध्य की प्रत्येक … पूरा कर उन्हें प्रसन्न …

…भिन्न …

…जनित … जाते हैं। … नटवर नागर उसके समस्त रोग

दूर हो जाते हैं। भगवान शंकरने महारास के दर्शन कर श्रीकृष्णचन्द्र से उनके प्रेम पाने का उपाय पूछा। भगवान ने कहा—जो सर्वतोभावेन, मेरे मन में मन, चित्त में चित्त, बुद्धि में बुद्धि, रूप में रूप, गुणों में गुण और लीलाओं में जीवन की सारी क्रियायें समाहित कर देता है वह मेरे प्रेम का अधिकारी है।

गोपी भावेन देवेश स
मामेति न चेतरः ।
आश्रित्य मत्प्रियां रुद्र
मां वशीकर्तु मर्हसि ॥

भगवत् शरणागत होकर श्री राधिका की की कृपा से साधक शीघ्र श्रीकृष्णाकार स्थिति प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है। उनकी कृपा से उनकी रूप माधुरी के दर्शन होने पर साधना सफल होती है। उनको एक बार देख लिया तो फिर और कुछ देखना अच्छा नहीं लगेगा और बार-बार उन्हें ही देखने की तीव्र व्याकुलता बनी रहती है। किसी कवि ने इस अवस्था का सुन्दर वर्णन किया है—

माथे पै मुकुट देखि, चन्द्रिका चटक देखि,
छवि की लटक देखि, रूप रस पीजिये।
लोचन विशाल देखि, गरे गुञ्जमाल देखि,
अधर रसाल देखि, चित्त चाव कीजिये॥
कुण्डल हलनि देखि, अलक बलनि देखि,
पलक चलनि देखि, सरबस ही दीजिये।
पीताम्बर की छोर देखि, मुरलीकी घोर देखि
साँवरे की ओर देखि, देखि बोई कीजिये॥

卐 शिक्षा परिवार और चरित्र 卐

शिक्षा—पूरी मानव जाति को नये सिरे से शिक्षित करना होगा। सारे विश्व की शिक्षा-संस्थाओं में तरह-तरह की शिक्षायें दी जाती है [illegible] प्रश्न [illegible] का ध्यान नहीं है कि 'मैं कौन हूँ' और [illegible] विजानीयात्'—अपने को पहचानो।' [illegible] हापुरुष कहते [illegible] इसकी ओर जाने की न तो प्रवृत्ति [illegible] चेष्टा। सबवुलरिज [illegible] रोजी देने वाली शिक्षा (जाँच औ [illegible] आदि वाक्यों में उलझ [illegible] संस्थाओं की डिग्रियों से नौकरी का [illegible] ही तोड़ा जाता और ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा शिक्षा का ध्येय नहीं बनता, तब त [illegible] मग्र व्यक्ति का निर्माण सम्भव नहीं है। समग्र व्यक्ति की पहचान यही है कि वह विद्या [illegible] सम्पन्न होकर मानव-जाति की सेवा में लगा रहे। सेवा करने के लिए जीवन-रक्षा के [illegible] विश्व साधन उसे मिलते रहें। परन्तु उसके जीवन का प्रधान आधार हो प्रेम और सेवा।

परिवार—केवल शिक्षा-संस्थाओं के द्वारा यह कार्य पूरा नहीं होगा। समाज की असली इकाई है—परिवार। जीवन का निर्माण परिवार में ही होता है। तुलसीदास ने कहा है कि जिसका पुत्र भगवान का भक्त हो, उसी का माता या पिता होना सार्थक है। दुर्भाग्य है कि आज पिता-माता आर्थिक उपार्जन या राजनैतिक कार्यों में इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें संतान के चरित्र-निर्माण की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिलता। —विनोबा

नारी और आध्यात्मिकता

डा० श्रीमती प्रतिमा अस्थाना

नारी का स्वाभाविक गुण है-'आध्यात्मिकता' और यही उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण धरोहर है। यदि सामान्य नारी का जीवन-दर्शन अध्ययन किया जाय तो, चाहे वह नागरीय नारी हो अथवा ग्राम्या, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, कृषक या श्रमिक नारी हो अथवा राजमहिषी— न केवल वे आस्तिक है वरन् उनके व्रत, उपवास, पूजा, अर्चना, तीज, त्यौहार और पर्व सब यही संकेत करते है कि उसका सूत्र अध्यात्म से बहुत निकट जुड़ा हुआ है। नारी का त्यागमय जीवन, उसका समर्पण प[illegible] के प्रति उसक[illegible] [illegible]ति के [illegible] [illegible]पन [illegible] आध्य[illegible] प्रगाढ़ सम्बन्ध है। उ[illegible] संवेदनशीलता और बलिदान की भावना को आध्यात्मिक स्रोत द्वारा ही शक्ति प्राप्त होती है।

नर और नारी दोनों के पारस्परिक सहयोग पर ही सामाजिक ढांचा आधारित है। पुरुष भी परिवार के लिए प्रतिबद्ध है, त्याग करते है। श्रम करते हैं। पुरुष की गरिमा इससे सिद्ध होती है कि जब-जब पृथ्वी पर धर्म की ग्लानि हुई तब तब अवतार हुए और पुरुष वेश में हो। किन्तु पुरुष की शक्ति है नारी। सभी अवतारों की जननी है नारी। शैशव में उनका लालन-पालन नारी ने ही किया। पुरुष की कर्मठता एव उपलब्धियों की पृष्ठभूमि में नारी अवश्य कहीं न कहीं दिखाई पड़ती है।

अध्यात्म के शाश्वत मूल्य, दया, क्षमा, प्रेम, सहिष्णुता, त्याग सभी नारी के चरित्र में अधिक मुखर है नारी इन मूल्यों की [illegible]ाहिका है और सन्तान में इन मूल्यों का [illegible]र नारी ही संचरित कर सकती है। इस [illegible]त्मक भूमिका है नारी की। परम [illegible] ममता और स्नेह रूप है, वह नारी [illegible] उजागर हुआ है। नारी की तरल ममता [illegible]त्म का मूलाधार है। सरोजिनी नायडू ने [illegible]री के इसी रूप की प्रशंसा करते हुए लिखा— नारी का कार्य है शौर्य की मदिरा में माधुर्य का अमृत घोलना। महात्मा गांधी भी नारी को आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक पुष्ट समझते थे। 'सत्य' तथा 'अहिंसा'

के अस्त्रों के प्रयोग के लिए उन्होंने नारी को अधिक सक्षम मानकर पुकारा था। भारतीय नारी ने स्वाधीनता संग्राम में जो भूमिका निभाई उससे गाँधीजी की विचारधारा पूर्णतः सिद्ध हो गई और विदेशी आक्रांता भारतीय नारी की सहनशक्ति देखकर चकित रह गये थे।

इस देश की नारी जो कभी पूर्णतः सक्षम थी, शिक्षित थी और समाजोपयोगी भूमिका में पुरुष के समकक्ष थी, कालान्तर में बड़ी हीन स्थिति को पहुँच गई थी। ब्रिटिश दासता के युग में नारी की सामाजिक आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय हो गई थी कि कवि चीत्कार कर उठा—

मुक्त करो नारी को, चिरबन्दिनी नारी को।
युग-युगकी निर्मम कारासे जननी, सखीप्यारीको।

जिस समय आर्य उत्तरापथ में विस्तार कर रहे थे नारी समाज को शिक्षा की सुविधा था। जन्म से मृत्यु तक के संस्कार पुरुषों [illegible] समान थे विशेषकर उपनयन संस्क[illegible] अनिवार्य था। आर्यों का जीवन [illegible] वादी था। वह नारी को साधना [illegible] पूर्ण सक्षम मानते थे क्योंकि नारी [illegible] उद्योग, कृषि, सभी क्षेत्रों में उनकी सहय[illegible]नी था। यही कारण था कि गार्गी, मैत्रेयी, अपाला, विश्ववारा और घोषा ने वैदिक ऋचाओं की रचना की और मनीषियों के समान आदर प्राप्त किया। 'दम्पत्ति' शब्द समान स्वामित्व का सूचक है। 'उषा' एकमात्र देवी थी किन्तु उसकी अर्चना में वैदिक ऋषियों ने जितने सुन्दर सूक्तों की रचना की है। अन्य किसी देव की अर्चना में नहीं की। प्रकृति के माध्यम से मानव और आध्यात्मिकता को जिन सूत्रों ने जोड़ दिया उनमें नारी के लिए कोई वर्जना नहीं थी। इस मार्ग में पुरुष हो या नारी सभी सहयात्री थे। इसमें किसी प्रकार का वर्गभेद, जातिभेद और लिंगभेद नहीं था। किन्तु कालान्तर में आर्य-अनार्य मिश्रण के पश्चात् अनार्य स्त्रियों के गृह में प्रवेश करने पर 'उपनयन' की समाप्ति से नारी समाज पर अन्धकार की छाया पड़ने लगी। समाजोपयोगी भूमिका भी अब नारी ने त्याग दी वस्त्राभूषणों एवं श्रृंगार से 'भोग्या' का रूप उभरने लगा। अनार्य 'दास' हर क्षेत्र में कार्य के लिए उपलब्ध होने लगे। नारी अन्यं[illegible] घर की चहार दीवारी [illegible] ने बाँधकर उससे ध[illegible] का अधिकार ही नहीं छीना वरन् उसे शूद्र घोषित कर दिया। समाज में नारी की स्थाई दासता का सिद्धान्त प्रवेश करने लगा। सम्भवतः उपनिषदों से 'निराशावाद' की उठती झलक और निवृत्ति-मार्ग की प्रधानता इसका कारण था। किन्तु सामान्य नारी ने अपनी आध्यात्मिक तृप्ति के लिए व्रत, उपवास, पूजा, अर्चना का मार्ग स्वीकार कर लिया। सीता, सावित्री,

कुन्ती, द्रौपदी, विदुला आदि नारियां समाज के लिए प्रेरणा-स्त्रोत बनी रहीं। सामाजिक रूढ़ियों के कारण ही राम ने सीता को त्याग दिया और परित्यक्ता सीता यही कामना करती रही कि तप द्वारा वह जन्म जन्मान्तर उसको पतिरूप में प्राप्त करेगी। द्रौपदी के पांच पति जब उसकी रक्षा नहीं कर सके तो उसने 'केशव' को ही पुकारा।

मध्ययुग में 'पर्दा प्रथा' को अभिजात्य का प्रतीक मानकर नारी समाज ने अपना लिया। सामाजिक रूढ़ियाँ भी नारी समाज के प्रति अत्यधिक अनुदार हो गई। बहुधा नारियां आतंक का दुर्दान्त शिकार बनती थीं। (स्थिति में आज विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता) हिन्दू समाज जब नारियों को वापिस लेने को तैयार न होता तो बलात् धर्म परिवर्तन अथवा आत्महत्या [illegible] विकल्प होता [illegible]

[illegible] रक्षा नारि [illegible]

[illegible]। सामान्य वर्ग की [illegible] सिर काटकर 'भगतों' के आगे थाल में [illegible] कर भेज देती थी। तारीखे शेरशाही। सामाजिक और आर्थिक अधिकारों से वंचित नारी का आत्मबल कितना प्रबल था। यह तत्कालीन इतिहासों की रचनाओं से ज्ञात होता है। प्रचलित मान्यताओं के प्रति विद्रोह करने की क्षमता भी आत्मबल से आती है—सशक्त—प्रमाण है राजस्थान की मीराबाई।

मेरो कोई नहिं रोकन हार
मगन होके मीरा चली।

अध्यात्म के पथ पर चलती हुई मीरा का पथ न तो समाज के ठेकेदार ही रोक सके, न राजकीय वैभव का प्रलोभन, न पति और परिवार की धुड़कियां। पति ही गुरु है और पतिगृह की चहार दीवारी में घुट घुट कर मरना नारी के लिए मोक्ष है। इसे न केवल चुनौती दी मीराबाई ने वरन् यह सिद्ध कर दिखाया कि साधना के पथ पर यदि पुरुष चल सकता है तो नारी भी पवित्रता और सौम्यता से सफलतापूर्वक चल सकती है। साधना का महत्त्व व्यक्तिगत है। नारी भी जिज्ञासु है। सत्य-पथ की अन्वेषिका होने का अधिकार नारी को भी है और इसे कोई भौतिक वर्जनायें और मर्यादायें रोक नहीं सकेंगी।

मध्ययुग में सन्त कबीर और अन्य साधकों के लिए कहा जाता है कि वे निवृत्ति मार्गी थे [illegible] वे नारी को साधना पथ का रोड़ा सम- [illegible] किन्तु यदि सन्त कबीर की यह [illegible] होती तो वह स्वयं को नारी रूप और प्रभु [illegible] प्रियतम रूप कैसे कहते?

हरि [illegible] मोरा पीव, मैं राम की बहुरिया।

सन्त तुलसीदास वेदान्त से प्रभावित थे फिर भी उन्होंने सीता और कौशल्या, अनुसूय्या और अरुन्धती का सुन्दर चित्रण किया है। पूर्णतः का बोध श्रेष्ठ नारी द्वारा ही होता है।

सिक्ख गुरु अर्जुनदेव ने नारी को 'पुरुष की अन्तरात्मा' कहकर सम्बोधित किया। सूरदासजी का चित्रण अपूर्व और क्रांतिमूलक है। 'राधा' परकीया थी और यशोदा की श्रेष्ठता है 'पर-सुत' के प्रति उनका प्रगाढ़ वात्सल्य एवं ममता बड़े सहज और स्वाभाविक स्वरूप में उजागर हुई। संत परम्परा में सहजोबाई एवं दयाबाई ने सुन्दर साहित्य की रचना की जिसमें निर्गुण-सगुण, रूप-अरूप, ब्रह्म, आत्मा, सतसंग, सतगुरु पर विस्तार से प्रकाश डालकर अधिकारपूर्ण ढंग से लिखा है (बेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित है)।

गृहस्थजीवन में अपने कर्तव्यों का पालन करती हुई नारी ने अपनी दुःख विपत्ति में किस प्रकार प्रभु को ही पुकारा इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। सखुबाई, जनाबाई, अक्कमहादेवी आदि अनेक महिलाओं का नाम आज अमर हो गया है, क्योंकि जीवन की नश्वरता [illegible] परिचित इन्होंने प्रभु का नाम [illegible] सर्वोपरि समझा। 'हाथों' से कठोर [illegible] और हृदय से प्रभु का स्मरण यही है [illegible]य नारी और अध्यात्मके गहन सम्बन्धों [illegible] मौन कहानी। सुख दुःख के क्षणों में नारी ने कभी बाह्य सहायता की अपेक्षा नहीं की वरन् अपनी आत्मा जाग्रत की और अन्तर्मुखी होकर परम तत्त्व से ही सम्बन्ध और शांति की याचना की। उसकी याचना कभी अनसुनी न रही और वह गूंगे के गुड़का स्वाद चखती हुई मगन रही।

आधुनिक युग में जब पुनर्जागरण का सूर्य देश में चमका तो दलित वर्ग के उत्थान के साथ नारी उत्थान की बात धर्म सुधारकों और समाजसेवियों ने की। नारी शिक्षा और नारी स्वतन्त्रता का सिद्धान्त मान लिया गया। जाग्रत नारियों ने देश में नारी आन्दोलन की आधारशिला रखी। स्वतन्त्र भारत के संविधान में लिंग भेद समाप्त कर दिया गया। प्रत्येक क्षेत्र में नारी को समान अधिकार दिये गये। किन्तु इन सबका आधार भौतिक रहा आध्यात्मिक नहीं। फलस्वरूप निराशा और कुण्ठा का वातावरण फैल गया। नारी शिक्षित होकर अपने चिन्तन आदर्शों से दूर होने लगी है। शिक्षा का प्रभाव है [illegible]सांस्कृतिक चेतना का [illegible]

[illegible] द्वारा भ्रमित है [illegible]

[illegible]त होकर अपने आध्[illegible]

[illegible]पालन करेगी तभी गांधीजी के रामराज्य की परिकल्पना साकार हो सकती है। उसे याद रखना होगा कि शारीरिक बल में यदि पुरुष श्रेष्ठ है तो आत्मिक बल में नारी श्रेष्ठ है। उसे आत्म-चेतना का दीप प्रज्ज्वलित कर आज के अवनत समाज को विकासोन्मुख करने में अपनी सृजनशील भूमिका का निर्वाह अवश्य करना है।

☼ ☼

❀ श्री सद्गुरुदेव जी के योग-प्रचार कार्यक्रम ❀

दिनांक २०-११-८१ को बीना के लिए प्रस्थान

केवल मात्र २०-११-८१ को बीना में योग-प्रचार व विश्राम

दिनांक २१-११-८१ को सागर के लिए प्रस्थान

दिनांक २१-११-८१ से २५-११-८१ तक — योग-प्रचार कार्यक्रम सागर
पता—द्वारा C/O श्री ए. एन. तिवारी
भार्गव भवन, ११३ बरिया घाट,
सागर-४७०-००२ (म० प्र०)

दिनांक २५-११-८१ को रायसेन के लिए प्रस्थान

दिनांक २६-११-८१ से ३-१२-८१ तक — योग-प्रचार कार्यक्रम रायसेन
पता—श्री रामकृष्णसिंह सिसोदिया
जिला शिक्षा अधिकारी रायसेन म.प्र.

दिनांक ३-१२-८१ को भोपाल के लिए प्रस्थान

दिनांक ३-१२-८१ से ४-१२-८१ तक — योग-प्रचार कार्यक्रम भोपाल

दिनांक ५-१२-८१ को नागपुर के लिए प्रस्थान

दिनांक ६-१२-८१ से १२-१२-८१ तक — योग-प्रचार कार्यक्रम नागपुर
पता—बूटी शिव मन्दिर, रानी झांसी चौक
सीता बर्डी नागपुर (महाराष्ट्रप्रान्त)

दिनांक १३-१२-८१ को कलकत्ते के लिए प्रस्थान

दिनांक १४-१२-८१ से ...-१२-... — योग-प्रचार कार्यक्रम कलकत्ता
पता—टीबरे वालों की धर्मशाला
(नजदीक महाजाती सदन व सन्मार्ग प्रेस)
१६४, चितरञ्जन एवन्यू कलकत्ता-७

...१२-८१ ... लिए प्रस्थान

...-१२-८१ से २४-१२-८१ तक — योग-प्रचार कार्यक्रम दुर्गापुर
...नाथ साहू, ४/५ विवेकानन्द
...ड, दुर्गापुर-७१३२०५, फोन २६५६

दिनांक २५-१२-८१ को धनबाद के लि... ...ान

दिनांक २५-१२-८१ से ३१-१२-८१ तक — ...ग-प्रचार कार्यक्रम धनबाद
पता—...रा ला० रामधनदास अग्रवाल
मुहल्ला हरी (पानी की टंकी के पास)
धनबाद (बिहार)

दिनांक ३१-१२-८१ को बनारस के लिए प्रस्थान

दिनांक १-...-८२ से ४-...-८२ तक — योग-प्रचार कार्यक्रम बनारस
पता—श्री आत्माप्रसादसिंह एडवोकेट
सी-१७/२७६, नदेसर, वाराणसी उ.प्र.

[शेष टाइटिल के दूसरे पृष्ठ पर]

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्ध योग

संस्थापक संपादक तथा संरक्षक
योगिराज अनंत श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

पुरुषार्थ

निर्णय करना, शुभ कर्म करना, शरीर की रक्षा करना, सत्संग करना यह सब पुरुषार्थ हैं और मिथ्या बुद्धि को हटाना भी पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ केवल परमार्थ के लिए है। संसार से सम्बन्धित कर्म पुरुषार्थ नहीं कहा जाता। विचार विवेक, अभ्यास [illegible] था सत्य की ओर चलने का प्रयास करना य[illegible] करण की शुद्धि के लिए पुरु[illegible] जितने सांसारि[illegible] वे सब प्रायः प्रारब्ध व[illegible] धनोपार्जन विवाह विद्या [illegible] आदि प्रायः भोगवश हो[illegible] है। संसार में बुद्धि का कार्य अधिक होता है इसी को ठीक क[illegible] परम पुरुषार्थ है। बुद्धि जितनी शुद्ध होगी उतनी ही विवेक विचार में लगेगी और विषयों में कम।

—ब्रह्मचारी श्री जगन्नाथ पथिक

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'मित्र' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलां, ताजगंज, आगरा–१ फोन ६२१६८